Notice

Owing to rush of work we shall not be able to issue the 'Kalyana-Kalpataru' by the end of January, as notified, and hope to issue it in the next month. We beg to be excused for this delay.

THE MANAGER,
'Kalyana-Kalpataru'
GORAKHPUR.

विषय-सूची

कल्याण माघ १९९० की

सूचना **श्रीशिवाङ्क** सूचना

नवीन संस्करण आगामी मासमें छपकर तैयार हो जायगा। जिन सज्जनोंने रुपये भेजे हैं या भेज रहे हैं एवं वी० पी० मँगवायी हैं या मँगवा रहे हैं उनसे थोड़ा धीरज रखनेकी प्रार्थना है। श्रीशिवांक तैयार होते ही सुरक्षितरूपसे सेवामें भेजा जा सकेगा। विलम्बके कारण जो असुविधा हुई है उसके लिये क्षमा करनेकी पुनः प्रार्थना करते हैं। व्यवस्थापक—कल्याण

गीता-डायरी सन् १९३४ की

प्रायः समाप्त हो गयी है। कोई सज्जन आर्डर न भेजें। अपने पासके बुकसेलरोंके पास हो तो वहींसे खरीदनेकी कृपा करें। काम अधिक होनेके कारण दूसरा संस्करण छापनेमें असमर्थ हैं।

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीभगवन्नाम-जप

गत पौषके अंकमें प्रकाशित सूचनाके अनुसार फाल्गुन शुक्ल १५ तकके लिये १६ नामके (हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे) मन्त्र-जाप करने-करानेकी चेष्टा कीजिये और संख्याकी सूचना भेजिये।

नाम-जप-विभाग,
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

श्रीगीता-परीक्षा

संवत् १९९० की गीता-परीक्षाका फल फाल्गुन कृष्ण ११ शनिवार ता० १० फरवरी सन् १९३४ को प्रकाशित होगा।

संवत् १९९१ की गीता-परीक्षा कार्तिक शुक्ल ७ मंगलवार ता० १३ नवम्बर सन् १९३४ से प्रारम्भ होगी। केन्द्र-व्यवस्थापक महोदयोंसे हमारी यही विनति है कि नियत अभ्यास-क्रमके अनुसार अभीसे अध्ययन कराके विद्यार्थियोंको परीक्षामें सम्मिलित करें। नियमावली-अभ्यास-क्रम तथा आवेदनपत्र मँगानेपर कार्यालयसे मिल सकेंगे। विशेष जानकारीके लिये लिखें—

संयोजक,
श्रीगीता-परीक्षा-समिति,
गीताप्रेस, गोरखपुर (यू० पी०)

श्रीहरिः

नयी पुस्तकें

श्रीश्रीविष्णुपुराण

छप गयी

(मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित)

असली आर्टपेपरपर छपे हुए सुन्दर ८ चित्र, साइज २२×२९ आठपेजी, कागज चिकना, पृष्ठ-संख्या ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़ेकी जिल्द २॥।) मात्र।

छपाई बहुत सुन्दर और साफ, ढङ्ग हमारे यहाँकी अध्यात्मरामायणवाला अर्थात् एक तरफ मूल श्लोक और उनके सामने उनका हिन्दी-अनुवाद। पढ़नेमें बड़ी सुगमता, अक्षर सुन्दर और बड़े।

यह ग्रन्थ महामुनि वेदव्यासजीद्वारा लिखित अष्टादश पुराणोंमेंसे है। इसमें सविस्तार श्रीविष्णुभगवान्‌की लीलाओंका वर्णन है। सृष्टिका उत्पत्तिक्रम, देवता-दैत्योंका युद्ध, समुद्रमन्थन, ध्रुवचरित्र, प्रह्लादचरित्र, जड भरतचरित्र इत्यादि वर्णनके साथ ही इसमें भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्णका चरित्र भी सुविस्तृत वर्णित है। इन सबके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें भूगोलविद्या, सूर्य-नक्षत्र एवं राशियोंकी व्यवस्था, कालचक्र, ज्योतिश्चक्र, शिशुमारचक्र इत्यादि विषयोंका भी प्रसंगानुसार बड़ा ही अनूठा और विशद-वर्णन है। भक्ति और ज्ञानकी प्रशान्त धारा तो इसमें सर्वत्र ही प्रच्छन्न रूपसे बह रही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ सब प्रकारसे अतीव उपयोगी और नित्य श्रवणके योग्य है। जहाँतक हमें पता है, अभीतक इसका कोई भी ऐसा सुन्दर और सस्ता हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ है। एक प्रति अवश्य मँगाकर लाभ उठाइये।

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा सम्पादित पुस्तकें

आदर्श भक्त

७ चित्र, पृष्ठ-संख्या ११२, मूल्य।-)

यह संक्षिप्त, सचित्र भक्त-चरित-मालाका ४ था पुष्प है। इस ग्रन्थमालाके पहले तीन पुष्प भक्त-बालक, भक्त-नारी और भक्त-पञ्चरत्नको पढ़कर जनताने जो आनन्द लाभ किया है उसे उनका हृदय ही जानता है। अबतक उनके अनेकों संस्करण हो चुके हैं। सामयिक पत्रोंने और सज्जनोंने उनपर बहुत ही उच्च सम्मतियाँ प्रदान की हैं।

प्रस्तुत पुस्तकमें राजा शिवि, राजा रन्तिदेव, राजा अम्बरीष, भीष्मपितामह, पाण्डव अर्जुन, विप्र सुदामा और चक्रिक भीलकी अत्यन्त उपादेय, शिक्षाप्रद और परम लाभकारी कथाएँ हैं। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य—खूब प्रचार करने योग्य—पुस्तक है।

भक्त-चन्द्रिका

सुन्दर रंगीन ७ चित्र, पृष्ठ-संख्या ९६, मूल्य।-)

यह उपरोक्त भक्त-चरित-मालाका पाँचवाँ पुष्प है। इसमें सखूबाई, श्रीज्योतिपन्त, भक्त विठ्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर भक्तिभावपूर्ण कथाएँ हैं।

वास्तवमें भगवान्‌के प्यारे भक्तोंके जीवनकी मीठी-मीठी बातोंको पढ़ने-सुननेसे आनन्द तो आता ही है, साथ ही हृदयका मल नष्ट होकर उसमें भगवान्‌की प्रेमभक्तिका अङ्कुर भी दृढ़तासे जम जाता है। ये कथाएँ बहुत ही हृदयग्राही हैं। सबके पढ़ने योग्य अतीव सुन्दर पुस्तक है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

भक्त-सप्तरत्न

सात सुन्दर रंगीन चित्र, पृष्ठ १०६, मूल्य।≠)

इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और यवन-भक्त सालवेगकी आनन्ददायक गाथाएँ हैं। यह भक्त-चरित-मालाका छठा पुष्प है। सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि इसके मधुर और पवित्र प्रेमरसको पानकर अपने तन, मन और वचनको प्रफुल्लित करनेकी कृपा करें। बहुत ही लाभदायक पुस्तक है। भगवान्की भक्ति करके छोटे भी बड़े, नीचे भी ऊँचे, माननीय और पूजनीय किस प्रकार बन जाते हैं यह इस पुस्तकमें पढ़िये।

भक्त-कुसुम

तिरंगे सुन्दर ६ चित्र, ९१ पृष्ठ, मू० ।≠)

भक्त जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, भक्त दक्षिणी तुलसीदास और हरिनारायणजीकी सुन्दर-सुन्दर प्रेमपूर्ण वार्ताओंका यह संग्रह पढ़कर सबको आनन्द होगा। भगवान्की भक्तिका कितना प्रभाव है, भगवान् भक्तकी मनचाही बात किस प्रकार पूर्णकर उनको सुख पहुँचाते हैं यह पढ़कर सुखी होइये।

व्रजकी झाँकी

चित्र-संख्या ५०, कागज चिकना आइवेरी,

कुल पृष्ठ ९०, मूल्य ।) मात्र

घर बैठे व्रजकी झाँकी देखनी हो या व्रजमें जाकर व्रजकी झाँकी देखनी हो तो यह पुस्तक एक बार पढ़नेके लिये हमारी प्रार्थना है। आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीकी लीलाभूमि श्रीव्रजके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानोंका इसमें वर्णन है। यथास्थान भगवान्की लीलाओंका वर्णन भी है जिससे पुस्तक बहुत ही रुचिकर और आनन्दप्रद हो गयी है। इसको पढ़ते-पढ़ते चित्त गद्गद होकर आनन्द आने लगता है। व्रजकी अनेक प्राकृतिक विचित्रताओंका पता भी इसे पढ़नेसे कुछ लग सकेगा। ऐसा कोई भी हिन्दू न होगा, जिसने मथुरा, वृन्दावनका नाम न सुना होगा। सभीका मन एक बार इनके दर्शन करनेका होता है। यह पुस्तक आपके पास होनेसे आपको व्रज-सम्बन्धी कई बातोंका पता लगेगा।

इसमें स्थान-परिचयके सिवा व्रजकी महिमा, व्रजभूमिमें मसजिदें, व्रजभूमिमें गोवधकी मनाही, शिकारकी मनाही, मथुरासे कुछ स्थानोंकी दूरी आदि उपयोगी विषय भी हैं। एक प्रति अवश्य मँगवा लें।

हमारी पुस्तकोंकी विशेष जानकारीके लिये पूर्व प्रकाशित पुस्तकोंका नया बड़ा सूचीपत्र एवं सुन्दर धार्मिक छोटे-बड़े चित्रोंका सूचीपत्र माँगनेसे सेवामें मुफ्त भेजा जायगा।

कल्याणकी पुरानी फाइलें और विशेषांक

(ये सब धीरे-धीरे बिकते जाते हैं, लेनेवाले सज्जन जल्दी करें)

१–तृतीय वर्षकी फाइल 'भक्तांक' सहित मूल्य ४≡) सजिल्द — ४॥≡)

२–सातवें वर्षकी फाइल 'ईश्वरांक' सहित मूल्य ४≡) सजिल्द (दो जिल्दें) — ५।-)

३–भगवन्नामांक पृष्ठ ११० रंग-बिरंगे ४१ चित्र मू० ॥≡) ,, — १≡)

४–रामायणांक पृष्ठ ५१२ तिरंगे-एकरंगे १६७ चित्र मूल्य २॥≡) सजिल्द — ३≡)

५–ईश्वरांक सपरिशिष्टांक पृष्ठ ६१८ मूल्य ३) ,, — ३॥)

६–शिवांक ,, पृष्ठ ६६६ मूल्य ३) ,, — ३॥)

व्यवस्थापक–कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर।

भगवान् श्रीरामचन्द्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

वर्ष ८ | गोरखपुर, माघ १९९० फरवरी १९३४ | संख्या ७ पूर्ण संख्या ९१

जाग रे !

जाग रे सब रैण बिहाणी । जाइ जनम अँजुलीको पाणी ॥
घड़ी घड़ी घड़ियाल बजावै । जो दिन जाइ सो बहुरि न आवै ॥
सूरज-चंद कहैं समुझाइ । दिन-दिन आव घटती जाइ ॥
सरवर-पाणी तरवर छाया । निस-दिन काल गरासै काया ॥
हंस बटाऊ प्रान पयाना । दादू आतम राम न जाना ॥

—दादूजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्रश्न—श्रीकृष्ण भगवान्में प्रेम होनेकी जोरदार बातें सुनानेकी कृपा कीजिये ।

उत्तर—हमारे पास तो वैसी बात नहीं, किन्तु भागवतमें श्रीकृष्ण-प्रेमके सम्बन्धमें बहुत जोरदार बातें कही गयी हैं । उनको देखना चाहिये । एवं 'श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञा' और रामायणमें कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानइ जोई ॥

× × ×

भगवत्-प्राप्तिके अनेक मार्ग हैं, किन्तु एक ही पुरुषद्वारा एक ही समयमें सबका साधन नहीं किया जा सकता । इसलिये भक्तको तो भक्ति बढ़ानेवाले कार्य ही करने चाहिये ।

× × ×

भगवान्की आज्ञा भजन करनेकी है । इसमें विरोध करनेवालेकी बात नहीं सुननी चाहिये ।

× × ×

शास्त्रमें कहा है—'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' यदि कोई भजन तथा ब्रह्मचर्य पालन करनेमें विरोध करे तो उसकी बात नहीं माननी चाहिये ।

× × ×

प्रारम्भमें यदि कोई दम्भसे भी भजन करता हो तो भी उसका विरोध नहीं करना चाहिये । क्योंकि साधु-सङ्ग निरन्तर होनेसे धीरे-धीरे उसका दम्भ छूट जायगा और वास्तविक भजन होने लगेगा । इसलिये भजन न करनेकी अपेक्षा दम्भसे भी भजन करनेवाला उत्तम है । भजनकी नकल करना भी उत्तम है, क्योंकि उससे वह सच्चे भजनमें भी लग सकता है ।

भाव कुभाव अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

× × ×

जो भगवन्नाम लेगा वह शुभ काम अवश्य करेगा । यदि उसके पहलेके कुछ पाप हों तो वे सब भगवत्-कृपासे छूट जायँगे ।

प्र०—क्या उसे फिर मनुष्य-जन्म मिलेगा ?

उ०—वह मनुष्योचित कर्म करेगा तो उसे मनुष्य-जन्म मिलेगा ।

एक राधावल्लभजीका उपासक था । एक समय उसे सन्निपात हो गया, उसमें भी वह राधा-कृष्णके पद गाता रहा ।

दूसरा एक ठेकेदार था, एक समय उसे भी सन्निपात हो गया, उसमें वह कहता रहा कि, 'अरे ! कंकड़ कूटो, मजदूरोंको बुलाओ ।' उसे भगवन्नाम लेनेको कहा गया परन्तु वह न ले सका । इसीलिये कहा गया है—'सदा तद्भावभावितः ।'

प्रकृति जड नहीं है, उसका कार्य जड है । क्योंकि प्रकृति जड-चेतनका विभाग करती है । पुरुष तो कुछ करता नहीं; इसलिये प्रकृतिको जड नहीं कह सकते । 'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।' प्रकृति कुछ भी हो, हमको तो उससे प्रयोजन नहीं है । हमें तो पुरुषको ही जानना है, उसीसे हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' ये सब गहन विषय हैं, भगवत्-कृपा होती है तभी समझमें आते हैं, इसीलिये (१) ईश्वर-कृपा, (२) गुरु-कृपा, (३) शास्त्र-कृपा, (४) अपनी कृपा—इन चार कृपाओंके होनेसे ही पूरा लाभ होता है(अनेककालभजनात्

भगवत्कृपा तदोदयेत्)। अतएव निरन्तर भगवद्भजन करना ही सबका सार है।

× × ×

ममत्वसे ही दुःख होता है, ईश्वर-सृष्टिके पदार्थोंसे दुःख नहीं हो सकता। ईश्वर-सृष्टिके पदार्थोंमें ममत्व करनेको ही जीव-सृष्टि कहते हैं। जैसे अनेक मकान हैं, उनके नष्ट हो जानेसे दुःख नहीं होता, किन्तु मकानको खरीद लेनेके वाद उसमें ममत्व हो जानेपर यदि उसकी एक ईंट भी कोई निकालता है तो बड़ा कष्ट होता है। इसलिये किसी पदार्थमें ममत्व न करके सब पदार्थोंको ईश्वरके समझकर सेवककी भाँति उनकी रक्षा तथा सम्हाल करते रहनेसे उनके संयोग-वियोगमें दुःख नहीं होता, क्योंकि सब पदार्थोंका बनानेवाला ईश्वर ही है। यदि कोई कहे यह मकान तो मैंने बनाया है तो मिट्टी, पत्थर आदि कहाँसे आये; ये तो मनुष्यकृत हैं नहीं, और यदि इन भौतिक पदार्थोंके बनानेवालेको ईश्वर मानें तो गवर्नमेण्टको सबसे बड़ा ईश्वर मानना चाहिये,क्योंकि उसने तो रेल, मोटर, तार, जहाज आदि अनेक पदार्थ बनाये हैं, पर लोहा न होता तो वह कहाँसे बनाती ? इसलिये यह मानना पड़ेगा कि सृष्टिका रचयिता और मालिक ईश्वर ही है।

× × ×

यदि आनन्द लेना है तो ईश्वरसे प्रेम करो, पदार्थोंके बनने-बिगड़नेसे कोई लाभ-हानि नहीं है।

× × ×

गोपियोंसे भगवान् श्रीकृष्ण एक क्षणभरके लिये भी अलग नहीं होते थे। जब वर्तमान कालके भक्तोंसे भी भगवान् दूर नहीं होते तो गोपियोंसे दूर कैसे जा सकते थे ? शास्त्रमें ऐसा कहा है—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

× × ×

भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। उनकी बड़ी ही अलौकिक और दिव्य नित्यलीलाएँ हुआ करती हैं। उन्हें कोई विरले भाग्यवान् प्रेमीजन ही देख पाते हैं। वे भगवान् हमारे पास भी बैठे हुए हैं, परन्तु हमारे पापोंसे हमें दीखते नहीं। भगवान् कहते हैं मैं तो भक्तोंका ऋणी हूँ, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य आदि मुक्तियाँ तो उन्हें मैं व्याजमें दे देता हूँ। मूल तो उनका जमा ही रहता है किन्तु वे प्रेमी भक्त इन चारों मुक्तियोंको मेरे द्वारा दी जानेपर भी स्वीकार नहीं करते—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

× × ×

अज्ञानका परदा हटते ही इस जगत्के ही स्थानमें सर्वत्र भगवान् दीखने लगेंगे।

हरिरेव जगज्जगदेव हरि-
जगतो हरितो न हि भिन्नतनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः
स नरः भवसागरमुद्धरति॥

× × ×

स्त्रियोंका भीख माँगकर खाना शास्त्रसे अत्यन्त विरुद्ध है। वे न एकान्तमें जायँ और न घर छोड़कर विचरण करें। 'भ्रमण करनेवाली स्त्री नाशको प्राप्त होती है।' वेदान्त बहुत-सी स्त्रियाँ सुनती हैं परन्तु धारण कोई भी नहीं करती। भजन उसके द्वारा होता है जिसको क्रोधका संसर्ग भी न हो।

× × ×

भगवत्-प्राप्तिके चार उपाय हैं (१) भगवद्दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा, (२) निरन्तर नामजप, (३) विषयोंमें अरुचि, (४) सहनशीलता।

× × ×

प्र०—भगवद्दर्शन सन्तकृपासे हो सकते हैं या नहीं ?

उ०—यद्यपि भगवद्दर्शन कृपासाध्य हैं तथापि ऐसे महात्मा पुरुष देखनेमें नहीं आते। हाँ, शास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं, इसलिये भगवद्दर्शन तथा भगवत्प्राप्तिके लिये चार उपाय ये भी हैं—(१) श्रद्धा, (२) सत्संग, (३) भजनक्रिया, (४) पाप तथा दुर्गुणोंका त्याग। भगवान्‌में आसक्ति होनेसे विषयोंमें वैराग्य होगा। भगवान्‌में आसक्ति हुए बिना विषयोंसे वैराग्य नहीं हो सकता, चाहे कोई परमहंस या दिगम्बर ही क्यों न हो जाय। भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्‌में आसक्ति करनी चाहिये। उनमें आसक्ति होनेका मुख्य उपाय है उनका चिन्तन। वह चिन्तन भी चार प्रकारसे होता है—(१) उनके नामका जप, स्मरण, कीर्तन, (२) उनके स्वरूपका ध्यान, (३) उनके गुणोंको श्रवण करना, कथन करना और सत्संग करना, (४) उनकी पूजा और सेवा करना। इन साधनोंका निरन्तर तीव्र अभ्यास होनेसे भगवान्‌में आसक्ति हो सकती है।

× × ×

प्र०—सत्संग करते रहनेपर भी वैराग्य क्यों नहीं होता ?

उ०—वैराग्य होनेका कारण है भगवान्‌में आसक्ति होना, और वह होती है भजनसे। सत्संग भी एक प्रकारसे भजन ही है, इसके दृढ़ अभ्याससे भगवान्‌में आसक्ति होनेपर वैराग्य होगा। साकारके दर्शन होना कठिन है, निर्गुण-निराकार तो प्राप्त है ही।

निरगुन रूप सुलभ अति सगुन न जाने कोय।

× × ×

जिनकी विचारमें रुचि नहीं है और जो भगवद्गुणानुवादमें ही मस्त हैं वे ही उत्तम हैं। पाप-कर्मोंको ध्वंस करनेके लिये जप करनेकी आवश्यकता है; इसीसे ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तिकी प्राप्ति होगी। इसको भी अनिर्विण्ण चित्तसे करना चाहिये। देह-नाशपर्यन्त इसे तत्परतासे करते रहना चाहिये। पुनः-पुनः चिन्तन करनेको ही अभ्यास कहते हैं और यही पुरुषार्थ है। ईश्वर-चिन्तनमें आनन्द आवे या न आवे उसे तो प्रतिज्ञा करके करते रहना चाहिये; मन भागता रहे तो कोई चिन्ता नहीं किन्तु नियमपूर्वक चिन्तन करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। भगवान् उसीपर दया करते हैं जो उनका चिन्तन करता है। जिसप्रकारसे भगवान्‌में मन लगे उसीको करना चाहिये। जपमें मन कम लगे तो कीर्तन करें या स्तोत्रपाठ या स्तुतिके पद गान करें।

× × ×

अभ्यास करनेसे हम निद्राको जड़मूलसे उखाड़ सकते हैं। किन्तु यह कार्य चार दिनके अभ्याससे न होगा। इसलिये जल्दबाज न होना चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं आजन्म भगवन्नाम लेता रहूँगा। नित्यके नाम-जपका हिसाब लिखा करें। इसप्रकार प्रतिज्ञा करनेसे भजन होगा। भजनको हठपूर्वक भी करना चाहिये। अति आहार और अति परिश्रम भजन करनेवालेके लिये निषेध है। जप करते हुए मन भटके तो भटकने दो। जपमें इतनी शक्ति है कि वह अधिक होनेसे अपने-आप मनको एकाग्र करनेमें मदद करेगा। हम तो एकाग्रता-की अपेक्षा प्रतिज्ञापूर्वक नियमितरूपसे जप करनेमें विशेष लाभ समझते हैं। जैसे तीन घण्टे भजनका, अठारह अध्याय गीतापाठका इत्यादि। काम नित्य-प्रति करनेकी प्रतिज्ञा कर ली तो इससे बड़ा लाभ है। यदि लाभ न दीखे तो कोई हर्ज नहीं। इस जन्ममें

नहीं तो अगले जन्ममें लाभ दीखेगा । कभी-न-कभी तो आनन्द आवेगा ही । कम-से-कम इतना तो आनन्द आवेगा कि मैंने आज इतना भजन किया ।

× × ×

श्रीरघुनाथजीके चरित्रमें शंका मत करो । इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहो । वे जो कुछ करते हैं, ठीक ही करते हैं । बेठीक कर ही नहीं सकते । श्रीरघुनाथजीको जब हम ईश्वर समझ चुके हैं तो उनके कार्योंमें तर्क करनेकी क्या जरूरत है ? महान् पुरुष जो करते हैं उसे आदर्शरूपमें नहीं मानना चाहिये, उनके उपदेशको आदर्श मानना चाहिये । नामके अभ्याससे नाम मधुर लगने लगेगा । नियमसे नाम लेनेपर नाम मधुर लगेगा । जैसे ध्यान करनेवालेको दिव्य गन्ध, दिव्य दर्शनादि अनेक चमत्कार मिलते हैं वैसे ही नाम जपनेसे मिलेंगे । भगवान्‌के दर्शनकी चाह होनेसे वे तत्काल दर्शन दे सकते हैं । केवल नाम-जपमें ही विश्वास होनेसे नाम-जपसे ही भगवान् दर्शन दे सकते हैं । जो अधिक काम करता है वह अधिक भजन भी करेगा । जो काम नहीं करता उससे भजन नहीं हो सकता । हाँ, भजनको धीरे-धीरे बढ़ाते जाओ तो काम अपने-आप कम होता जायगा । यदि भजनमें अत्यन्त प्रेम है तो घर छोड़कर एकान्तमें भजन कर सकते हो । भजनमें कोई विघ्न कर ही नहीं सकता, इसलिये पहले अभ्यास करना चाहिये । कुछ समय भजन-कीर्तनादि करना चाहिये, थोड़ी देर सत्संग करना चाहिये, थोड़ी देर गुणानुवाद-कथनादि करना चाहिये जिससे मन लग जायगा । यदि पैसे पासमें हों या कमाते हो तो उससे साधुसेवा करो ।

× × ×

'काशीमरणान्मुक्तिः' इसमें कोई सन्देह नहीं—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

ये सब भगवान्‌के धाम हैं, वहाँ रहकर शुभ कर्म करनेसे अवश्य मुक्ति होगी । यदि धाम-महत्त्व न हो तो उसे कौन मानेगा ? काशी, वृन्दावन, गंगा, यमुना आदि सब मुक्तिके धाम हैं ।

× × ×

श्रीकृष्णके गुणानुवादमें कर्मकाण्ड, आचार-विचारका कोई काम नहीं । वहाँ तो गौ दुहते, झाड़ देते, दधि मथते तथा हरेक काम करते व्रज-बालाएँ श्रीकृष्णका गुणानुवाद गाया करती थीं ।

× × ×

आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करनेकी इच्छा करने-वाले व्यक्तिको यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा । तथा इन आठ साधनोंका भी पालन करना चाहिये (१) अष्ट प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग । (२) स्त्रीका संकल्प ही न करे । (३) स्त्री या स्त्रीके चित्रका बने जहाँ-तक दर्शन ही न करे । (४) यदि भूलसे दृष्टि चली जाय तो एक बार दृष्टि पड़ते ही उधरसे दृष्टिको तत्काल हटा ले और दूसरी बार भूलकर भी उधर न देखे । (५) स्त्रीको भगवती-स्वरूप समझे । (६) स्त्री-संगियोंका संग न करे । (७) एकान्तमें भूलकर भी स्त्रीमात्रसे भाषण न करे । और (८) पशु, पक्षी आदि जीवमात्रको मैथुन करते न देखे ।

× × ×

यदि किसीको विस्तारसे दैवीसम्पत्तिका वर्णन देखना हो या परमार्थसम्बन्धी उपयोगी बातें जाननी हों तो गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'साधन-पथ' को विचारपूर्वक पढ़ना चाहिये । उस छोटी-सी

पुस्तकमें बहुत कामकी बातें लिखी हैं। मैंने सैकड़ों लोगोंको यह पुस्तक पढ़नेके लिये कहा है।

× × ×

रासलीला नित्यलीला है। वह एक क्षणके लिये भी बन्द नहीं होती किन्तु उसे सब नहीं देख सकते, जिनकी दिव्य दृष्टि होती है वे ही देख सकते हैं।

× × ×

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

जिसमें दैवीसम्पत्ति है वही भगवान्‌का भजन कर सकता है। विना दैवीसम्पत्ति धारण किये भगवान्‌का यथार्थ भजन होना बहुत कठिन है, अतएव भजनके साथ-साथ दैवीसम्पत्तिको धारण करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। भगवान्‌का प्रभाव जानकर अनन्य मनसे भजन करना चाहिये। गोपियाँ भी इसी प्रकारसे भजन किया करती थीं। उन्होंने कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

हे भगवन्! आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, किन्तु सम्पूर्ण विश्वके अन्तरात्मा हैं। सखे! आप अरण्यवासी मुनियोंकी प्रार्थनाके अनुसार विश्वकी रक्षाके लिये ही यादववंशमें अवतीर्ण हुए हैं।

इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि आप गोपिकानन्दन नहीं हैं। यदि आप गोपिकानन्दन होते तो आपको दया जरूर आती, क्योंकि यशोदाजी बड़ी दयालु हैं और आप तो निर्दयीकी तरह हमें बड़ा कष्ट दे रहे हैं। आप सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तर्द्रष्टा भी नहीं हैं। यदि अन्तर्द्रष्टा होते तो हमारे हृदयकी वेदना देखकर जरूर प्रकट हो जाते।

× × ×

रुक्मिणीको भगवान्‌ने कहा कि तुमने सब राजाओंको छोड़कर मुझे पति बनाया सो बड़ी भूल की। तब वह बोली—'महाराज! आप ठीक ही कहते हैं। जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छावाले सम्राट् एवं राजा लोग अपने सम्पूर्ण राजवैभवको तिलाञ्जलि देकर चले जाते हैं, उन राजाओंके साथ आपकी तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि आप राजराजेश्वर साक्षात् भगवान् हैं। आप हाड़-मांसके पुतले भी नहीं हैं। आप साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं। इसलिये मैंने सब तरफसे अपना मन हटाकर आप भगवान्‌में आसक्ति की, सो अच्छा ही किया।' इसी प्रकार हम-लोगोंको भी सब सांसारिक पदार्थोंसे अपना मन हटाकर केवल भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये।

× × ×

'कल्याण' मासिकपत्रने ध्यानसहित नाम-जपकी महिमा गाकर संसारका बड़ा उपकार किया, क्योंकि सब लोग जपके साथ ध्यान नहीं किया करते हैं। इससे विना ध्यानके विशेष लाभ भी शीघ्र नहीं मिलता। भजन कैसे करना चाहिये, तुलसीदास-जीने कहा है—

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

लोभीकी भाँति नाम अधिकाधिक संख्यामें जपना चाहिये और कामीकी भाँति स्वरूपका ध्यान निरन्तर करना चाहिये।

× × ×

सर्वोपयोगी प्रश्न

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न किये हैं, यहाँ वे उत्तरसहित प्रकाशित किये जाते हैं—

(१) प्र०—सच्चा वैराग्य किसप्रकार हो ?

उ०—संसारके सम्पूर्ण पदार्थ क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य हैं, इस रहस्यको सच्चे वैराग्यवान् पुरुषोंके सङ्गसे समझनेपर सच्चा वैराग्य हो सकता है।

(२) प्र०—ईश्वर-प्राप्ति पुरुषार्थ और भगवत्कृपाद्वारा होती है, वह पुरुषार्थ किसप्रकार किया जाय और भगवत्कृपा किस तरह समझी जाय ?

उ०—सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन भगवान्‌की सब प्रकारसे शरण होना ही असली पुरुषार्थ है। अतएव भगवान्‌की शरण होनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे तत्पर होना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, उनकी आज्ञाका पालन और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिके साधनोंमें एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें उन परमात्माकी कृपाका पद-पदपर अनुभव करनेका नाम शरण है। और उनकी शरण होनेसे ही उसकी कृपाका रहस्य समझमें आ सकता है।

(३) प्र०—ईश्वरके दर्शन और प्राप्तिका सहज उपाय क्या है ?

उ०—अनन्य-भक्ति ही सहज उपाय है।

भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११।५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य-भक्ति करके तो इसप्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

अनन्य-भक्तिका स्वरूप यह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११।५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य-भक्तिवाला पुरुष) मुझको (ही) प्राप्त होता है।'

सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति तो ज्ञानयोगद्वारा भी हो सकती है परन्तु सगुण रूपके साक्षात् दर्शन केवल ईश्वरकी अनन्य-भक्तिसे ही हो सकते हैं। अनन्य-भक्ति और अनन्य-शरण यथार्थमें वस्तुतः एक ही है परन्तु व्याख्या करते समय शरणकी व्याख्यामें अनन्य-भक्तिका और अनन्य-भक्तिकी व्याख्यामें अनन्य-शरणका वर्णन हुआ करता है। जैसे उपर्युक्त श्लोकके 'मत्परमः' शब्दसे भगवत्-शरणका कथन किया गया है, वैसे ही गीता अध्याय ९ के ३४ वें श्लोकमें शरणके अन्तर्गत अनन्य-भक्तिका कथन आया है। गीता अ० ९ के ३२ वें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनिवाले (अन्त्यज) भी मेरी शरण होकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

इस उपदेशके बाद आगे चलकर भगवान्‌ने ३४ वें श्लोकमें शरणका स्वरूप इसप्रकार बतलाया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझे प्रणाम कर । इसप्रकार मेरे शरण हुआ (तू) आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा ।'

यों तो इस सारे ही श्लोकमें 'शरण' के नामसे अनन्य-भक्तिका ही वर्णन है परन्तु 'मद्भक्तो भव' शब्दसे स्पष्टरूपमें भक्तिका कथन है ।

(४) प्र०—मनुष्य ईश्वरकी जरूरत क्यों नहीं समझता ? और उस जरूरतके समझनेका उपाय क्या है ?

उ०—ईश्वरके स्वरूप, रहस्य, स्वभाव, गुण, प्रभाव और तत्त्वको न जाननेके कारण ही ईश्वरकी जरूरत मनुष्यके समझमें नहीं आती । इस अज्ञानके नाश होते ही जरूरत समझमें आ जाती है । ईश्वरके उपर्युक्त स्वरूपादिको यथार्थतः जाननेवाले पुरुषोंके संगसे ही इस अज्ञानका नाश हो सकता है ।

(५) प्र०—

उमा राम स्वभाव जिन जाना । तिनहिं भजन तजि भाव न आना ॥

'भगवान्‌का ऐसा कौन-सा स्वभाव है जिसके जान लेनेपर भजन किये बिना न रहा जाय ?'

उ०—भगवान् पुरुषोत्तम बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करनेवाले परम सुहृद् हैं, शरणागतवत्सल हैं, एवं दीनबन्धु हैं, इत्यादि अनेकों गुणोंसे युक्त उनके स्वभावको तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य उनका भजन किये बिना नहीं रह सकता । श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(गीता १५ । १९)

'हे भारत ! इसप्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(गीता ५ । २९)

'मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
(गीता ४ । ११)

'हे अर्जुन ! जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं (भी) उनको वैसे ही भजता हूँ । (इस रहस्यको जानकर ही) बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं ।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वा० रा० यु० १८ । ३३)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ', ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ ।'

(६) प्र०—हम बड़ी-बड़ी बातें करना ही जानते हैं, साधन नहीं करते, ऐसा क्यों होता है ?

उ०—बुरी आदतके कारण ऐसा होता है । सत्पुरुषोंके और उत्तम साधकोंके संगसे एवं शास्त्रके विचारसे यह आदत नष्ट हो सकती है ।

(७) प्र०—सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास होनेमें क्या कारण है ?

उ०—नास्तिक पुरुषोंका संग और पूर्वकृत पापोंके संस्कारोंका उदय; इन दो कारणोंसे सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अतएव विचारके द्वारा नास्तिक पुरुषोंके संगका त्याग और कुसंस्कारोंका परिहार करना चाहिये। कुसंस्कारोंके नाशके लिये ईश्वरसे प्रार्थना भी करनी चाहिये।

(८) प्र०—यदि हम पुरुषार्थ नहीं करें, केवल भगवत्कृपा समझते रहें तो क्या उद्धार नहीं हो सकता ?

उ०—भगवत्-कृपाके समझनेका यह दुष्परिणाम नहीं हो सकता कि जिसमें समझनेवाला भगवत्के अनुकूल पुरुषार्थसे रहित हो जाय! क्योंकि भगवान्की शरण होना ही असली पुरुषार्थ है और शरण होनेसे ही मनुष्य भगवान्की कृपाके रहस्यको समझ सकता है। फिर उस कृपाके रहस्यको समझनेवाला पुरुष पुरुषार्थहीन कैसे हो सकता है?

(९) प्र०—भगवान् हर जगह मौजूद हैं, हमारी प्रार्थना दयार्द्र हृदयसे सुनते हैं और व्याकुल होनेपर प्रकट होकर दर्शन भी दे सकते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास कैसे हो ?

उ०—भगवान्के गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य, लीला और तत्त्वके अमृतमय वचन उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा पुनः-पुनः श्रवण करके मनन करनेसे एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे दृढ़ विश्वास हो सकता है।

(१०) प्र०—कोई अपनेको नीचा समझता है तो वह नीचा हो जाता है, किन्तु गोसाईं तुलसीदासजी तो अपनेको दीन समझकर ही परमपदको पा गये। यह कैसे हुआ ?

उ०—नीचा कर्म करनेसे ही मनुष्य नीचा होता है, दीन समझनेसे ही नहीं। परमेश्वरके सम्मुख दीन-भावसे प्रार्थना करनेवाला तो नीच भी परमपदको प्राप्त हो जाता है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी परमपदको प्राप्त हुए, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपनेको श्रेष्ठ समझना ही अपना पतन करना है, जो सच्चे हृदयसे अपनेको सबसे लघु, दीन समझता है, उसीका प्रभु उद्धार करते हैं। क्योंकि प्रभुका नाम दीनबन्धु बतलाया गया है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ माननेवाला तो नीचे गिरता है। क्योंकि उसमें अहङ्कार-बुद्धि होती है और अहङ्कार अज्ञानजनित होनेसे पतनका कारण है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ मानना ही मूढ़ता है। दीन मानना तो गुण है। अपनेको नीचा समझनेसे कोई नीचा नहीं होता, बल्कि वह तो सबसे ऊँचा समझा जाता है।

(११) प्र०—ईश्वरके प्रति सच्ची परायणता कैसे हो ?

उ०—ईश्वरपरायण भक्तोंके संग और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे हो सकती है ?

(१२) प्र०—भगवान्को यन्त्री और अपनेको यन्त्र कैसे बनाया जा सकता है ?

उ०—जो भगवान्के यन्त्र बन चुके हैं अर्थात् शरण हो चुके हैं, उन पुरुषोंके संग और कथनानुसार साधनसे बनाया जा सकता है।

(१३) प्र०—भगवान्के सच्चे भक्तोंके दर्शन कैसे हो सकते हैं ?

उ०—पूर्वसञ्चित उत्तम कर्मोंके समुदायसे, भगवान्के भक्तोंमें सच्ची श्रद्धा होनेसे एवं भगवान् और भगवद्भक्तोंकी कृपासे सच्चे भक्तोंके दर्शन होते हैं।

भक्त-गाथा

[भक्तश्रेष्ठ नामदेव]

क्षिण हैदराबादमें नरसी ब्राह्मणी नामक एक गाँव है। वहाँ दामा सेठ नामक परम भगवद्भक्त दर्जी (छींपी) रहते थे। उनकी धर्मपत्नीका नाम गोणाई था। भक्तश्रेष्ठ नामदेवजी इसी दम्पतिके पुत्ररत्न हैं। विक्रम संवत् १३२७ के कार्तिक शुक्ल १ रविवारके दिन सूर्योदयके समय नामदेवजीका जन्म हुआ था। ये पूर्वसंस्कारवश जन्मसे ही भगवद्भक्त थे। नामदेवजी-के पूर्वज यदु सेठजी अत्यन्त सरल प्रकृतिके सदाचारी एवं पण्ढरपुरके भगवान् श्रीविट्ठलके एकनिष्ठ उपासक थे। दामा सेठ उन्हींकी पाँचवीं पीढ़ीमें हुए। नामदेव-सरीखे परम भागवतका जन्म ऐसे ही पुनीत कुलमें हुआ करता है।

माता-पिता ही बालकके सर्वप्रथम गुरु होते हैं। उन्हींकी बातोंका अनुकरण बालक किया करता है। नामदेवजीके माता-पिता भगवद्भक्त थे, वे निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका गान किया करते थे। नामदेवजी भी उनसे भगवन्नाम सुन-सुनकर वही सीखने लगे। श्रीविट्ठलकी मूर्ति, विट्ठलका नाम, विट्ठलका जय-जयकार और विट्ठलकी पण्ढरी नगरीके निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे नामदेव विट्ठलमय हो गये थे। नामदेवकी दृढ़ श्रद्धा हो गयी थी कि श्रीविट्ठल-मूर्ति चैतन्य है और वही सच्चे भगवान् हैं।

एक समय इनके पिताको कार्यवश कहीं बाहर जाना पड़ा। वे जाते समय नामदेवपर भगवान् विट्ठलकी पूजाका भार सौंप गये। लड़कपनकी सरल श्रद्धासे नामदेव पूजाका सामान और नैवेद्यके लिये कटोरीमें दूध लेकर भगवान्के सामने पहुँचे। सहज श्रद्धासे भगवान्की पूजा समाप्त कर दूधकी कटोरी भगवान्के सामने रखकर उसे पीनेके लिये भगवान्से कहने लगे। परन्तु भगवान् भी बड़े हठीले होते हैं, बालककी सीधी-सादी वाणीपर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। नामदेवजीने कुछ देर आँखें बन्द रखकर जब खोलीं, दूधको ज्यों-का-त्यों कटोरीमें पड़े देखा, इससे उनके मनमें कुछ दुःख हुआ। नामदेवजी सोचने लगे कि मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया है कि विट्ठल भगवान् मेरा निवेदन किया हुआ दूध नहीं पीते। वे बराबर दूध पीनेके लिये आग्रहपूर्ण निवेदन करने लगे परन्तु जब भगवान्ने उनका दूध ग्रहण नहीं किया तो उनको बड़ा दुःख हुआ, आँखोंमें प्रेमकोपसे आँसू भर आये। उन्होंने कहा कि 'विट्ठल! यदि आप मेरी कटोरीका दूध न पीयेंगे तो याद रखिये मैं भी जीवनभर कभी दूध नहीं पीऊँगा' इस बाल-प्रतिज्ञाने बड़ा काम किया। नामदेवने भगवान्की मूर्तिको पाषाणकी मूर्ति नहीं समझा था। उसके मन तो वे साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा थे। हम चैतन्यको न मानकर ही मूर्ति-पूजा करते हैं, इसीसे भगवान् चैतन्यरूपसे हमारे सामने प्रकट नहीं होते। नामदेवजीने चैतन्य मानकर हठ किया। अतः उसी समय भगवान्को साक्षात् प्रकट होना पड़ा। भगवान्ने भक्तिप्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ दूध ग्रहण किया। भगवान्की प्रतिज्ञा ही ठहरी—

> पत्र, पुष्प, फल, जल जो मेरे अर्पण करे सभक्ति विनोद।
> प्रयतचित्तके दिये हुए उसको मैं खाता हूँ सह-मोद॥
>
> (गीता ९। २६)

भगवान्से नामदेवजीकी पूरी जान-पहचान हो गयी। अब वे जो कुछ भी भगवान्को अर्पण करते, भगवान् प्रकट होकर उसे ग्रहण करते। इसप्रकार

उनकी भक्तिका रंग दिनोंदिन गहरा होता गया। वे नौ सालकी उम्रमें ही वारकरी भक्तमण्डलीमें बाल-भागवत गिने जाने लगे।

उस समयकी सामाजिक प्रथाके अनुसार नामदेव-जीका विवाह गोविन्द सेठ सदावर्तेकी लड़की राजाईके साथ छोटी उम्रमें कर दिया गया था। परन्तु ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गयी त्यों-ही-त्यों उनकी भक्ति भी विशुद्ध होकर बढ़ती गयी। गृहस्थीके कार्योंमें उनका मन नहीं लगता था। उनकी स्त्री और माता व्यापार-धन्धा करनेके लिये उनसे कहा करतीं, परन्तु उनके लिये हरिकीर्तन छोड़कर और किसी भी काममें लगना असम्भव-सा हो गया। पण्ढरपुरके भक्तमण्डलमें नामदेवजीकी खूब प्रसिद्धि हो गयी। अब नामदेवजी नरसी ब्राह्मणी गाँवको छोड़कर पण्ढरपुरमें जाकर रहने लगे। यहाँ गोरा कुम्हार, साँवता माली आदि भक्तोंसे इनकी प्रीति हो गयी। सब मिलकर भक्तिरसमें सराबोर हुए भजन-कीर्तन करने लगे।

पण्ढरपुरमें हरिशयनी और हरिबोधिनी एकादशी-को बड़ा भारी मेला लगा करता है। उस दिन भगवान्के दर्शनके लिये प्रायः सभी वारकरी सन्त पण्ढरपुर जाते हैं और भक्ति-प्रेम तथा सत्सङ्गका आनन्द लूट-कर अपने-अपने स्थानको लौटते हैं। परन्तु नामदेवजीकी स्थिति वैसी नहीं थी। उन्होंने ता पण्ढरपुरको अपना निवास-स्थान ही बना लिया था जिससे उन्हें चन्द्रभागा-नदीका स्नान, पुण्डलीक भक्त तथा उनके भगवान् पाण्डुरङ्ग विट्ठलरायके दर्शन, निरन्तर आने-जानेवाले वैष्णव भक्तोंका सङ्ग तथा महाद्वार और चन्द्रभागा-नदीके रेतीले मैदानमें चलने-वाले कथा-कीर्तनमें विभोर रहनेका सौभाग्य प्राप्त था। विट्ठलके लिये तो वे ऐसे बन गये थे कि दिन-रात भीतर-बाहर केवल भगवान्के साथ ही क्रीड़ा करते थे। भगवान् विट्ठलके प्रति उनकी अनन्यभक्ति थी। वे उन कटिपर हाथ रक्खे ईंटपर खड़े पण्ढरीनाथ विट्ठल भगवान्के ध्यानमें मस्त रहते थे। "पण्ढरपुरमें लेनेमें और देनेमें विट्ठलका नाम ही लिया जाता है। विट्ठलके नामसे ही सारे काम करने होते हैं, इस-प्रकार विट्ठलनामरूपी सुखका लेन-देन वहाँ चला करता है, जिससे सम्पूर्ण कार्य भगवन्नाम-स्मरण करते हुए ही करनेकी शिक्षा मिलती है। वहाँ भक्त-भावन भगवान् अपने भक्तोंकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण कर देते हैं। जो इन पण्ढरीनाथके दर्शन करते हैं उनको ये पुरुषोत्तम कभी नहीं भूलते। इसप्रकारका ब्रह्मानन्द अन्य स्थानमें कहाँ है ? पण्ढरपुर-क्षेत्र भगवान्के सुदर्शन-चक्रपर बसा हुआ है। जो लोग हरिबोधिनी और हरिशयनीके दिन भगवान्के दर्शन-के लिये उत्कण्ठित रहते हैं, त्रिलोकेश्वर चक्रपाणि भगवान् ईंटपर खड़े उनकी बाट देखा करते हैं। श्रुतिके लिये अगम्य देव पण्ढरपुरमें अति सुलभ हैं। उनका रूप मधुर है, उनका नाम मधुर है, उनका यश मधुर है—उनका सब कुछ मधुर-ही-मधुर है।" यही नामदेवकी विट्ठल-उपासनाका रहस्य है।

एक स्थानमें नामदेवजीने कहा है कि 'हे पुरुषोत्तम! आपके प्रेमसे मैं स्वयं खिंच आया हूँ, मेरा और आपका सम्बन्ध शरीर और आत्मा-जैसा है, मगर ये दोनों भी आप ही हैं।' इस प्रेमभरे वर्णनमें एक यह रहस्य है कि नामदेवजीका भक्तिके साथ ही अद्वैत ज्ञानपर भी पूरा अधिकार था।

उनके अभङ्गोंमें कहीं-कहीं भगवान्के साथ प्रेमकलह भी दिखायी पड़ती है। बिना प्रेमके ऐसा कलह नहीं होती और यदि होती है तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। नामदेवजीने एक अभङ्गमें कहा है—'आपके नामकी महिमा भक्तोंने ही बढ़ा दी है। अनेक नाम-रूपोंके अलङ्कार उन्होंने ही आपको पहना दिये

हैं, वास्तवमें आप तो नाम-रूप और जाति-कुलसे हीन ही हैं। ये सब आपको भक्तोंसे ही प्राप्त हुए हैं। भक्तोंके कारण ही आप भक्तवत्सल कहलाते हैं। आपका बड़प्पन हमारे ही कारण है। हम जैसे आपके लिये पागल हो रहे हैं, वैसे ही आपको भी हमारे लिये पागल हो जाना चाहिये। यदि न हों तो भी हमारी क्या हानि है? हमारे प्रेम-सुखको तो आप हरण कर ही नहीं सकते?' नामदेवकी प्रेमकलहका यह एक छोटा-सा नमूना है।

ईश्वर-प्रेमकी प्रबलता, भावनाकी तीव्रता और सर्वस्व अर्पण, इसीमें आत्मनिवेदनकी परिपूर्णता है। जाग्रत्-स्वप्नादि सर्व अवस्थाओंमें भगवान्‌के सिवा कुछ भी प्रिय न लगना 'तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' भागवतकी इस उक्तिके अनुसार भगवान्‌के गुणानुवादमें ही निमग्न रहना और शरीर-वाणीसहित मनका भगवत्-प्रेममें घुल जाना ही भक्ति है। इसप्रकारका दुर्लभ प्रेम भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है।

अभ्यास करके मनुष्य इसे नहीं पा सकते। भगवान्‌की कृपासे ही एकमात्र भगवान्‌में प्रियतमभाव उत्पन्न होता है। जिसके मन भगवान् प्रियतम हो जाते हैं, उसे फिर भगवान्‌का स्थान, भगवान्‌की मूर्ति, भगवान्‌के गुणानुवाद, भगवान्‌के भक्त, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की चर्चा आदि भगवत्सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु अति प्रिय हो जाती है। ईश्वरप्रेमके निरतिशय सुखका लोभी मनुष्य उस सुखको पलभरके लिये भी नहीं छोड़ सकता। नामदेवजीके सारे अभङ्गोंमें इसी प्रकारका महान् प्रेम भरा है।

सन्त स्वभावतः उदारहृदय हुआ करते हैं। वे किसीकी निन्दा नहीं करते, परन्तु पाखण्डियोंका दम्भ दिखलाकर साधकको सावधान करनेके लिये उनके दुर्गुणोंका दिग्दर्शन उन्हें करना पड़ता है और ऐसा नामदेवजीने भी किया है।

प्रसिद्ध सन्त श्रीज्ञानेश्वर महाराजको एक बार नामदेवके सङ्गकी इच्छा हुई। उन्होंने नामदेवजीको तीर्थयात्रामें साथ चलनेको कहा। नामदेवजीने कहा कि आप मुझे भगवान्‌से आज्ञा दिला दें तो मैं चल सकता हूँ। ज्ञानेश्वरजी नामदेवके सङ्गकी इच्छा करते हैं, यह जानकर भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌ने नामदेवकी प्रशंसा करके ज्ञानेश्वरजीसे कहा—'नामदेव मेरा बड़ा लाड़ला है। मैं क्षणभरके लिये भी इसे दूर करना नहीं चाहता। तुम चाहते हो तो इसे ले जा सकते हो परन्तु इसकी सँभाल रखना।' इतना कहकर भगवान्‌ने ज्ञानेश्वरजीको नामदेवजीका हाथ पकड़ा दिया। नामदेवजीके साथ ज्ञानेश्वरका मिलन ऐसा ही था जैसा ऐकान्तिक भक्तिके साथ सर्वव्यापी ज्ञानका सम्मेलन!

नामदेवजी ज्ञानेश्वरजीके साथ भगवच्चर्चा करते हुए जाने लगे, परन्तु उनका चित्त तो श्रीपाण्डुरङ्गके चरणकमलोंमें ही अटक रहा था। वे कहते थे 'हे पाण्डुरङ्ग! तुम्हारे वियोगसे मेरा हृदय फटा जा रहा है। मुझे बड़ा उद्वेग हो रहा है। मेरे तो तीर्थ-व्रत, धर्म-अधर्म, सब कुछ तुम ही हो।' ज्ञानेश्वर महाराज उन्हें बहुत प्रकारसे सान्त्वना देकर कहते कि 'तुम धन्य हो जो ऐसा प्रेम तुम्हें प्राप्त हुआ है। तुम व्यर्थ शोक क्यों करते हो? भगवान् सर्वव्यापी हैं, तुम्हारे हृदयमें भी तो हैं।' नामदेवजी कहते 'आपका कहना यथार्थ है, परन्तु मुझे तो पुण्डलीकके पास खड़े पाण्डुरङ्गको देखे बिना कल नहीं पड़ती।' उनके इस अनन्यभावको देखकर ज्ञानेश्वरजी बड़े प्रसन्न होते थे।

एक समय ज्ञानेश्वरजीने नामदेवसे पूछा कि 'भजन किसप्रकार करना चाहिये। मन, बुद्धिको सात्त्विक

कैसे बनाया जा सकता है। श्रवणादि साधनोंका मर्म क्या है? भक्ति और ध्यान क्या है?' इन प्रश्नोंको सुनते ही विनयकी मूर्ति नामदेवजीने गद्गद होकर ज्ञानेश्वरजीके चरण पकड़ लिये और कहा कि 'मुझे तो पाण्डुरङ्गकी कृपाका ही भरोसा है। ऐसा ज्ञान मेरे भाग्यमें कहाँ! मुझमें न ज्ञान है, न मैं बहुश्रुत हूँ। इसीलिये तो भगवान्‌ने मुझे आपके हाथ सौंप दिया है। आपका पूछना तो ऐसा है जैसा कल्पवृक्ष-का किसी दीनके पास याचना करना, अथवा कामधेनुका किसी दरिद्रके पास दैन्य प्रकट करना। माल्म होता है आप विनोदसे ऐसे प्रश्न पूछकर मेरा सुख बढ़ाना चाहते हैं।' इसपर ज्ञानेश्वरजीने कहा 'मैं तुम्हारे मुखसे अनुभूत साधन सुनना चाहता हूँ। तुम तो भगवान्‌के प्रेम-भण्डारी हो। तुम्हारी रसपूर्ण बातों-को सुननेके लिये मेरे कान उत्सुक हो गये हैं। इस-लिये मुझे अपने अनुभवकी बातें जरूर बतलाओ।' ज्ञानेश्वरकी इस आज्ञाको पाकर नामदेवजी कहने लगे—

'मैं क्या कहूँ, मुझे तो नाम-संकीर्तन ही प्रिय है। उसके सामने दूसरे साधन व्यर्थ और कष्टप्रद प्रतीत होते हैं। यही भजन है। गुण-दोषोंको न देखकर सभीके साथ सच्ची नम्रताका व्यवहार करना ही वन्दन है। इससे अन्तःकरण सदा प्रसन्न रहता है। और सात्त्विकता प्राप्त होती है। समस्त विश्वमें एक-मात्र मेरे विठ्ठलको देखना और भगवान्‌के चरणोंका हृदयमें अखण्ड स्मरण करना ही उत्तम ध्यान है। जिसप्रकार हरिण नादसे मोहित होकर देहकी सुधि भूल जाता है वैसे ही मुखसे उच्चारण किये जानेवाले नाम-स्मरणमें मनको दृढ़तासे लगाये रखकर तल्लीन हो जाना ही प्रेमयुक्त श्रवण है। भृङ्गकीटन्यायसे भगवच्चरणोंका दृढ़ अनुसन्धान ही उत्तम निदिध्यासन है। सर्वभावसे, एकमात्र विठ्ठलका ही ध्यान, सब भूतोंमें उन्हींके स्वरूपका अवलोकन, रज और तमसे रहित होकर सबसे आसक्ति हटाकर केवल प्रेम-सुधा-का पान करना ही भक्ति है। अनुरागसे एकान्तमें गोविन्दका ध्यान करनेके सिवा अन्य कहीं भी विश्राम नहीं है। इन वचनोंको भी परम उदार, सर्वज्ञ मेरे पाण्डुरङ्गने ही मुझसे कहला दिया है।' नामदेवकी इस दिव्य वाणीको सुनकर ज्ञानेश्वरजी बहुत ही प्रसन्न हुए।

इसप्रकार तीर्थयात्रा करते हुए प्रभास, द्वारिका आदि क्षेत्र और अन्यान्य मोक्षपुरियोंके दर्शन-कर दोनों ज्ञानी भक्त लौट रहे थे। रास्तेमें बीकानेरके समीपवर्ती कौलायतजी नामक गाँव आ गया। दोनोंको बड़ी प्यास लगी थी। पासमें ही एक कुआँ था परन्तु वह सूखा था। ज्ञानेश्वरजी सिद्धिप्राप्त योगी थे। उन्होंने लघिमा-सिद्धिके द्वारा कुएँके भीतर जमीनमें प्रवेश कर जल पी लिया और नामदेवजीके लिये जल लेकर वे ऊपर आ गये। परन्तु नामदेवजीने वह जल नहीं पीया, वे भावमग्न हुए कह रहे थे कि 'क्या मेरे विठ्ठलको मेरी चिन्ता नहीं है।' भगवान् तो भक्तकी सेवाका अवसर ही ढूँढ़ा करते हैं, फिर ऐसे समयपर वे कैसे चूकते? भगवत्कृपासे कुआँ जलसे भरकर बह निकला। भक्तके प्रेम-बन्धनका प्रभाव देखकर ज्ञानेश्वर-जी भी आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने नामदेवको सचेत किया और गाढ़ आलिङ्गनकर वे उनके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। नामदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। कुछ दिनोंमें यात्रा पूर्ण करके दोनों लौट आये।

नामदेव अपने प्राणोंसे भी प्यारे विठ्ठलसे मिले और कहने लगे कि 'मेरे मनमें भ्रम था इसीलिये आपने मुझे दर-दर भटकाया। परन्तु भगवन्! निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि पण्ढरपुरका-सा सुख अन्यत्र स्वप्नमें भी नहीं है। संसारमें अनेक तीर्थ हैं परन्तु मेरा मन तो चन्द्रभागाकी ओर ही लगा रहता है, आपके बिना अन्य देवकी ओर मेरे पैर चलना ही

नहीं चाहते, मेरे कान दूसरे किसीके यशको सुनना नहीं चाहते। जहाँपर गरुड़चिह्नांकित पताकाएँ नहीं हैं वह स्थान कैसा? जहाँपर वैष्णवोंका मेला न हो तथा अखण्ड हरिकथा न चलती हो वह क्षेत्र भी कैसा? ये सारी बातें पण्ढरपुरमें विट्ठलके चरणोंमें हैं इसलिये मैं आपके सिवा कुछ भी नहीं जानता हूँ। परन्तु आपने मुझपर बड़ी कृपा की जो सर्वत्र मेरे लिये पण्ढरपुर कर दिया और याद करते ही मुझे दर्शन देते रहे!'

ज्ञानेश्वरजीके समाधि लेनेके बाद फिर एक बार नामदेव उत्तरभारतमें गये थे। नामदेवको विसोबा खेचरसे पूर्ण ज्ञानका बोध हुआ था। इसलिये उन्हींको वे अपना गुरु मानते थे।

नामदेवजीकी आयुका पूर्वार्द्ध पण्ढरपुरमें और उत्तरार्द्ध पञ्जाब आदि प्रान्तोंमें भक्तिका प्रचार करनेमें बीता। आपकी भक्ति बहुत ही उच्च कोटिकी थी।

भगवान्‌ने उस महात्मा भक्तको बहुत ही दुर्लभ बतलाया है जो सर्वत्र सबमें भगवान्‌को ही देखता है। वास्तवमें वही मनुष्य धन्य है जो सर्वत्र भगवद्दर्शनका अभ्यास करता है और उसमें सफल हो जाता है। श्रीनामदेवजीमें यह सर्वत्र भगवत्-दर्शनकी निष्ठा बहुत ही अच्छे स्वरूपमें प्रकट थी। वे जहाँ कहीं रहते, जिस किसी भी चीजको देखते, उनके मन भगवान्‌के सिवा अन्य कुछ भी नहीं दीखता। उनके जीवनकी इस बातको पुष्ट करनेवाली घटनाओंमेंसे कुछ नीचे लिखी जाती हैं।

(१) एक समय नामदेवजीकी कुटियामें आग लग गयी। आग एक तरफमें थी। आप प्रेममस्त हुए दूसरी तरफ रक्खी हुई चीजोंको उठा-उठाकर आगमें फेंकने लगे और कहने लगे कि 'प्रभो! खूब आये। आज तो लाल-लाल लपटोंसे लपलपाते हुए आये। परन्तु एक ही ओर क्यों आये? एक तरफकी चीजोंको आपने ग्रहण किया, दूसरी ओरकी चीजोंने क्या पाप किया जो आपकी कृपासे ये वञ्चित रहीं। प्रभो! इन्हें भी ग्रहण कीजिये।' यों कहकर लगे कीर्तन करने और नाचने। कुछ देरमें आग बुझ गयी। नामदेव कुटिया बिना हो गये। वर्षाकाल था, कहाँ रहें! भगवान्‌ने स्वयं मजूर बनकर बात-की-बातमें नामदेवजीकी कुटिया बनाकर उसपर छान छा दी, तबसे आप नामदेवजीकी छान छा देनेवाले मशहूर हुए।

(२) एक समय आप किसी गाँवमें जा निकले, और वहाँ एक सूने मकानमें ठहर गये। उसमें कोई ब्रह्मराक्षस रहता था। लोगोंने कहा, 'महाराज! इस घरमें न रहिये, इसमें भूत रहता है और वह आधी रातको आकर इसमें रहनेवालेको मार डालता है। नामदेवजी सबमें भगवान् देखते थे। उन्होंने कहा भूत भी तो मेरे विट्ठल ही बने होंगे। उन्होंने निर्भयतासे मुसकुरा दिया और वहीं टिक गये। आधीरातका समय हुआ। भूत आया। उसका शरीर बहुत ही लम्बा-चौड़ा और सूरत भयावनी थी। नामदेवजीने उसे देखते ही भगवद्भावसे प्रणाम करके यह पद गाया और कीर्तन करके नाचने लगे—

भले पधारे लंबकनाथ।
धरनी पाँव स्वर्ग लौं माथा जोजन भरके लाँबे हाथ॥
सिव सनकादिक पार न पावैं अनगिन साज सजाये साथ।
नामदेवके तुम ही स्वामी कीजै मोकों आज सनाथ॥
जब यह पद गावत भये तब वह प्रेत तुरंत।
पाय चतुर्भुज रूप तहँ भयो विकुंठ बसंत॥
(भक्तमाल रीवाँमहाराजकृत)

प्रेत तुरन्त भगवद्रूपमें परिणत हो गया। नामदेवजीके मन तो वह पहले भी भगवान् ही था!

(३) एक बार नामदेवजी किसी जंगलमें पेड़के नीचे रोटी बना रहे थे। रोटियाँ बनाकर रक्खी थीं। और आप लघुशङ्काको गये। इतनेमें एक कुत्ता आया

और रोटियाँ मुँहमें उठाकर भाग चला, इतनेमें नामदेवजी आ गये। सबमें भगवान् देखनेवाले भक्तश्रेष्ठ, घीकी कटोरी हाथमें लेकर यह पुकारते हुए कुत्तेके पीछे दौड़े कि 'भगवन्! रोटियाँ रूखी हैं, अभी चुपड़ी नहीं हैं। मुझे घी लगाने दीजिये, फिर भोग लगाइये।' भगवान्ने कुत्तेका रूप त्यागकर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये अपने दिव्य चतुर्भुजरूपमें उन्हें दर्शन दिया!

नामदेवजीकी भक्ति कितनी ऊँची बढ़ी हुई थी। इसका अनुमान उपर्युक्त घटनाओंसे किया जा सकता है। अनेक लोगोंको भक्तिमार्गमें लगाकर वि० सं० १४०७ में ८० वर्षकी अवस्थामें आप नश्वर शरीरको त्यागकर परमधाम पधारे। महाराष्ट्रमें नामदेवजी वारकरी पन्थके एक प्रकारसे संस्थापक ही कहे जा सकते हैं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

गीताका एक श्लोक

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है वैसे (ही) जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।

इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने पूर्वशरीरको त्यागकर दूसरे नवीन शरीरके प्राप्तिके सम्बन्धमें वस्त्रोंके बदलने-का दृष्टान्त देकर अर्जुनको आत्माकी नित्यता समझायी है। वस्त्रोंके उदाहरणके विषयमें कई प्रकारकी शंकाएँ की जाती हैं अतः यहाँ उनका समाधान किया जाता है।

शंका—पुराने सड़े-गले गन्दे वस्त्रोंके त्यागमें भी मनुष्यको सुख होता है, और फिर नये धारण करनेमें भी सुख होता है परन्तु पुराने शरीरके त्यागमें और नयेके ग्रहणमें यानी मरने और जन्मनेमें सबको क्लेश होता है अतएव यह उदाहरण समीचीन नहीं है।

समाधान—पुराने शरीरके त्याग और नवीनके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानीको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। ज्ञानी एवं भक्तको दुःख नहीं होता। भगवान्ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २। १३)

अर्थात् जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था (होती है) वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। श्रीरामजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके बालिने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका गिरना न जाने, यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम-चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानैं नाग॥

पुराने वस्त्रोंको त्यागने और नये धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेको हर्ष नहीं होता। माँ जब उसके पुराने गन्दे कुरतेको उतारती है तब भी वह बालक रोता है। और जब नया साफ-सुथरा पहनाती है तब भी रोता है। तो भी माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने प्रिय जीवरूप बालकके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण सर्वथा समीचीन है।

शंका–भगवान्ने यहाँ शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' शब्दका प्रयोग किया है परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर या शरीर पुराना होनेपर ही मनुष्यकी मृत्यु होती हो। हम देखते हैं कि नवीन उम्रके जवान और बच्चे भी मरते हैं। अतएव यह उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान–यहाँ 'जीर्ण' शब्दसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल, जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। अतएव यह उदाहरण युक्तिसंगत है।

शंका–यहाँ 'वासांसि' और 'शरीराणि' ये दोनों ही शब्द बहुवचन हैं। कपड़ा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ दो-चार पुराने वस्त्र त्यागकर नये ग्रहण कर सकता है, परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोड़कर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं है अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग उचित नहीं है।

समाधान–यहाँ एक ही साथ बहुत-से पुराने वस्त्रोंको त्यागकर, बहुत-से नये वस्त्र पहननेकी भाँति, एक ही साथ अनेकों पुराने शरीर छोड़कर नये ग्रहण करनेकी बात भगवान् नहीं कह रहे हैं। श्रीभगवान्का तात्पर्य है कि मनुष्य जैसे अपने जीवन-में क्रमसे अनेक बार अनेकों पुराने वस्त्रोंको छोड़ता और नये वस्त्रोंको पहनता है इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अनेकों जन्मोंमें अनेकों बार पुराने शरीरोंको छोड़ता और नये शरीरोंको धारण करता आया है। न मालूम इससे पूर्व जीवात्माने कितने शरीर छोड़े हैं और कितने नये धारण किये हैं और भविष्यमें भी जब-तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक अनन्त पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंका धारण करता रहेगा।

यदि कोई कहे कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-भेदसे शरीर तीन हैं इसीलिये भगवान्ने शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग किया है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि देही यानी जीवात्मा इस स्थूल शरीरको त्यागनेपर कारण और सूक्ष्म शरीरको इसमेंसे लेकर ही दूसरे स्थूल शरीरमें जाता है। तीनों शरीरोंका त्याग होनेपर तो जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। कारण और सूक्ष्म शरीरके सहित ही गमनागमन कहा जाता है। वास्तवमें तो आत्मा अचल और अक्रिय होनेके कारण उसमें किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं है। सूक्ष्म और स्थूल शरीरके सम्बन्धसे उसमें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। तीनों शरीरोंके त्याग करनेवालेको तो 'देही' ही नहीं कहा जा सकता। देही तो देहा-भिमानीको ही कहा जा सकता है अतएव यहाँ तीनों शरीरोंका विषय नहीं है।

शंका–इसमें क्रियाका प्रयोग भी ठीक नहीं हुआ है। वस्त्रोंके लिये 'गृह्णाति' कहा है और शरीरके लिये 'संयाति' कहा है। दोनों जगह एक ही 'गृह्णाति' या 'संयाति' क्रियाका होना उचित था। और ऐसा करनेमें छन्दभंगकी भी कोई सम्भावना नहीं थी, फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया?

समाधान–यद्यपि फलमें कोई भेद नहीं है तथापि 'गृह्णाति' क्रियाका मुख्य अर्थ ग्रहण करनेमें है और 'संयाति' का मुख्य अर्थ गमनमें है। वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी और एक शरीरको छोड़कर दूसरेमें जाना प्रतीत होता है इसलिये नवीन शरीरमें जानेके विषयमें 'संयाति' क्रिया दी गयी। अतएव क्रियाभेद होनेपर भी फलमें अभेद होनेके कारण ऐसा करना सर्वथा युक्तिसंगत ही है।

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

बालाकि—हे राजन् ! वेदप्रतिपादित स्वर्गादि अर्थोंमें प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाणकी प्रवृत्ति चाहे न हो, परन्तु अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति स्वर्गादि अर्थोंमें हो सकती है।

अजातशत्रु—हे बालाकि ! अर्थापत्ति आदि प्रमाण अनुमान-प्रमाणसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ? इनमें दूसरा—अभिन्न पक्ष नहीं बनता, क्योंकि अर्थापत्ति आदि प्रमाण यदि अनुमान-प्रमाणके अन्तर्भूत माने जायँ तो अनुमान-प्रमाणकी प्रवृत्तिमें पूर्व जो दोष कह आये हैं, वे सब दोष अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंमें भी प्राप्त होंगे। इसलिये अनुमान-प्रमाणसे अर्थापत्ति आदि प्रमाण अभिन्न नहीं हो सकते और यदि अर्थापत्ति आदि प्रमाण अनुमान-प्रमाणसे भिन्न हैं—यह प्रथम पक्ष माना जाय तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि यदि अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंको अनुमान-प्रमाणसे भिन्न माना जायगा तो अर्थापत्ति आदि प्रमाण स्वतन्त्र होकर किसी प्रमाज्ञानको उत्पन्न नहीं करते। किसी दृष्टान्तको लेकर ही वे किसी पुरुषके प्रमाज्ञानको उत्पन्न करते हैं, और दृष्टान्त प्रत्यक्ष ज्ञानसे भिन्न नहीं होता, वह प्रत्यक्ष ज्ञानके अन्तर्भूत ही होता है। इसलिये अनुमान-प्रमाणसे भिन्न होनेपर भी अर्थापत्ति आदि प्रमाण वेदप्रतिपादित स्वर्गादिरूप अर्थोंमें प्रवृत्त नहीं होते। इसलिये हे बालाकि ! सम्पूर्ण दोषोंसे रहित वेदभगवान् जिस अर्थका बोधन करते हैं, वही अर्थ मुमुक्षुओंको अवश्य ग्रहण करना चाहिये। जैसे धर्मात्मा राजाकी आज्ञाको प्रजा ग्रहण करती है इसी प्रकार वेदभगवान्की आज्ञा बुद्धिमान् पुरुषोंको ग्रहण करनी योग्य है। वेदके अर्थमें कदापि असम्भावना नहीं करनी चाहिये। वेदभगवान् प्रतिदिन जाग्रत्को प्राप्त हुए वाक् आदि इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कथन करते हैं; अग्नि आदि देवताओं और शब्दादि विषयोंकी उत्पत्तिका भी कथन करते हैं। और सुषुप्ति-अवस्थामें सर्व वाक् आदिका लय भी वेदभगवान् कहते हैं। इसलिये हे बालाकि ! तू इसप्रकारके वेदके अर्थमें श्रद्धा धारण कर और सोते हुए पुरुषको उठानेके समयमें उसके शरीरमें स्थित आनन्दस्वरूप आत्माका और इसी प्रकार हृदयकमलमें स्थित आत्माका मैंने तुझे जो उपदेश किया इन दोनों प्रकारके उपदेशोंको पाकर अब तुझे आत्मामें परिच्छिन्नता-दृष्टि नहीं करनी चाहिये।

हे बालाकि ! जैसे घट, मठ, शरावादि उपाधियोंमें एक ही परिपूर्ण आकाश है इसी प्रकार एक ही परिपूर्ण आत्मा वाग् आदि उपाधियोंमें है। वागादि-विशिष्ट इस आत्माको मूढ़ पुरुष वक्ता, श्रोता तथा द्रष्टारूप मानते हैं; परन्तु तुझे इसप्रकार आत्माको परिच्छिन्न नहीं मानना चाहिये। उपाधियोंका त्याग करके तू एक ही आनन्दस्वरूप आत्माको परिपूर्ण जान।

बालाकि—हे राजन् ! यदि आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है तो आपने पहले हृदयदेशमें आत्माकी स्थिति किसलिये बतलायी ?

अजातशत्रु—हे बालाकि ! जैसे केशोंके मूँडनेका साधन अस्तुरा नाईकी पेटीमें किसी एक स्थान-

पर रहता है, वैसे यह आनन्दस्वरूप आत्मा केवल हृदयदेशमें ही नहीं रहता, यह तो सब प्राणियोंके बाहर-भीतर व्यापक होकर रहता है। तो भी अन्तः-करणमें, इन्द्रियोंमें और शरीरमें आत्माकी विशेष करके उपलब्धि होती है; इसीलिये हृदयमें, इन्द्रियोंमें और शरीरमें आत्माकी स्थिति मैंने कही है। जैसे अग्नि सामान्यरूपसे सबमें व्यापक है तो भी काठमें अग्नि रहती है—ऐसा लोकमें कहा जाता है। इसलिये हे बालाकि! जैसे नाईकी पेटीमें अस्तुरारूपी शस्त्रकी जल्दी उपलब्धि होती है, इसी प्रकार हृदयकमलमें स्थित अत्यन्त स्वच्छ बुद्धिमें आत्माकी उपलब्धि विशेष-रूपसे होती है। जैसे नाईकी पेटीमें ही अस्तुरारूप शस्त्र रहता है, अन्यत्र नहीं रहता; इसी प्रकार बुद्धि-रूपी देशमें ही आत्मा रहता है, अन्यत्र नहीं रहता। इस अभिप्रायसे आत्माकी स्थिति बुद्धिमें मैंने कही है। इसप्रकार हृदयमें आत्माकी विशेष अभि-व्यक्तिको बोध करानेवाले अस्तुरेके दृष्टान्तका निरूपण करके हृदयकी अपेक्षासे शरीरादिमें आत्मा-के अल्प प्रकाशको बतानेवाले अग्नि आदिके दृष्टान्त-के अभिप्रायका मैंने निरूपण किया है।

हे बालाकि! यह आनन्दस्वरूप आत्मा जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके शरीरोंको उत्पन्न करके अपने चैतन्यरूपसे नखके अग्रभागसे लेकर शिखापर्यन्त समस्त शरीरमें व्याप्त रहता है। जैसे अग्नि यद्यपि सर्वत्र समान है तो भी अरणीरूपी काष्ठमें अग्निकी विशेष अभिव्यक्तिको देखकर 'काष्ठमें अग्नि रहता है' ऐसा कहनेमें आता है, इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि चैतन्यस्वरूपसे सर्वत्र समान है तो भी शरीरमें चैतन्यकी विशेष अभिव्यक्ति देखकर 'शरीरमें आत्मा रहता है' ऐसा कहना होता है। शरीरमें जो आत्मा-की विशेष अभिव्यक्ति कही है, वह घटादिकी अपेक्षा-से कही हुई समझनी चाहिये। अन्तःकरणकी अपेक्षा शरीरमें आत्माकी अभिव्यक्ति अल्प होती है; इसलिये हे बालाकि! आकाशके समान सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा इस शरीरमें चैतन्यरूपसे प्रतीत होता है, इस कारण-से सर्व शरीरोंमें नखके अग्रभागसे लेकर शिखापर्यन्त परमात्माका प्रवेश श्रुतिने कहा है। और हे बालाकि! जैसे मृत्तिका घटाकार परिणामको प्राप्त होती है, इसलिये मृत्तिकामें मुख्य-प्रज्ञा तथा गौण-प्रज्ञा सम्भव नहीं है; इसी प्रकार मन, इन्द्रिय तथा देहादि संघात भी अनेक प्रकारके परिणामको प्राप्त होते हैं, इसलिये इस संघातमें भी मुख्य अथवा गौण-प्रज्ञा सम्भव नहीं है। प्रज्ञास्वरूप आत्माके तादात्म्य-अध्यासके कारण अविचारकालमें शरीरादिमें चैतन्यस्वरूप प्रज्ञा प्रतीत होती है, विचार करनेपर शरीरादिमें प्रज्ञा सम्भव नहीं होती।

बालाकि—हे राजन्! मन, इन्द्रियों और शरीर-में आपने जो प्रज्ञाका अभाव कहा, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि बुद्धिरूपी प्रज्ञा मन आदिमें सम्भव है।

अजातशत्रु—हे बालाकि! चैतन्य आत्माके सिवा मन, इन्द्रियाँ तथा शरीरादि सब जड़ और विकारी हैं, इसलिये मन आदिमें रहनेवाली बुद्धिरूपी प्रज्ञा भी जड़ और विकारी है। क्योंकि जैसे शरीरादि परिणामको प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार बुद्धि भी परिणामको प्राप्त होती है, अतएव बुद्धि जड़ और विकारी है, चैतन्य-रूप नहीं है। इसलिये हे बालाकि! आनन्दस्वरूप आत्माके सिवा किसी भी वस्तुमें ज्ञानस्वरूप प्रज्ञा नहीं है। एक आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। हे बालाकि! जैसे आत्माके सिवा किसी भी अनात्म पदार्थमें ज्ञान नहीं है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माके सिवा किसी अनात्म-पदार्थमें सुख भी नहीं है। एक आत्मा

ही सुखरूप है; ऐसा सुखस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा सुख तथा ज्ञानसे रहित मन, इन्द्रिय तथा देहादिको अपने तादात्म्य-सम्बन्धसे सुखयुक्त तथा ज्ञानयुक्त करता है, जैसे धनी पुरुष अपने सेवकको धनवाला करता है, इसी प्रकार सुखस्वरूप और ज्ञानस्वरूप आत्मा मन तथा इन्द्रियोंको सुखयुक्त तथा ज्ञानयुक्त करता है। और हे बालाकि! इस सुखस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप आत्माका आश्रय करके वाक् आदि अध्यात्म तथा अग्नि आदि अधिदैव सब अपने-अपने नामादि विषयोंका निश्चय करते हैं। आत्माके सम्बन्ध बिना कोई भी वाक् आदि स्वतन्त्र होकर अर्थका निश्चय नहीं कर सकते। जैसे कि यथार्थ ज्ञानवाले और विपरीत ज्ञानवाले धनवान् पुरुषके निश्चयके अनुसार ही उसका नौकर किसी कार्यका निश्चय करता है, धनवान् पुरुषके निश्चय बिना नौकरको स्वतन्त्र निश्चय नहीं होता, इसी प्रकार आत्माके सम्बन्धसे ही वाक् आदिको निश्चय होता है, स्वतन्त्र निश्चय किसीको नहीं होता।

बालाकि-हे राजन्! बाह्य कार्यमें यद्यपि नौकरके लिये धनी पुरुषकी पराधीनता है तो भी ज्ञानरूपी आन्तर निश्चयमें नौकरको धनीकी अपेक्षा सम्भव नहीं है। इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी एकता नहीं है।

अजातशत्रु-हे बालाकि! ज्ञानरूप आन्तर निश्चयकी उत्पत्तिमें यद्यपि नौकरको धनीकी अपेक्षा नहीं है तो भी धनीके निश्चय बिना नौकरका निश्चय निष्फल है अर्थात् ज्ञानरूप निश्चयसे पुरुषकी कार्यमें प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति धनवान्के निश्चय बिना नौकरकी स्वतन्त्रतासे नहीं होती, धनवान्की सम्मति ग्रहण करके ही किसी कार्यमें नौकरकी प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्माका आश्रय करके ही सर्व वाक् आदि, यह कार्य अवश्य करनेयोग्य है, यह कार्य करनेयोग्य नहीं है, इसप्रकार पदार्थका निश्चय करते हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा बिना कोई भी वाक् आदि स्वतन्त्र होकर पदार्थको नहीं जानते। इस दृष्टान्त और सिद्धान्तमें इसप्रकार फेर-फार है—

दृष्टान्तमें धनवान्के ज्ञानसे नौकरका ज्ञान भिन्न है और सिद्धान्तमें तो आत्माके ज्ञानसे भिन्न कोई भी ज्ञान वाक् आदि इन्द्रियोंमें नहीं है। आत्माका ज्ञान ही वाक् आदि इन्द्रियोंसे युक्त होकर अनेक भावको प्राप्त होता है, इसलिये आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। आत्माके सिवा सर्व अनात्म-पदार्थ जड़ हैं। हे बालाकि! उदाहरणतः भोगके साधनरूप धनादि पदार्थोंसे युक्त कोई वैश्य अपने पुत्र तथा नौकरोंसहित धनादि पदार्थोंको भोगता है, अकेला ही नहीं भोगता। यदि अकेला ही भोगे तो उसका सब धन चोर आदि ले जायँ। इसलिये वह सबके साथ ही उन पदार्थोंको भोगता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा भी वाक् आदि इन्द्रियोंसहित भोगोंको भोगता है, बिना उनके अकेला शुद्ध आत्मा भोग नहीं भोगता। और जैसे धनवान्के पुत्रादि, बान्धव और नौकर वैश्यके बिना स्वतन्त्र किसी पदार्थको नहीं भोगते, सब साथ मिलकर ही भोगते हैं; इसी प्रकार इन्द्रियादि आत्माके बिना भोगको नहीं भोगते, आत्माके साथ मिलकर ही वाक् आदि भोग भोगते हैं। सुख-दुःखके अनुभवका नाम भोग है, यह भोग उपाधिरहित आत्मामें सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वाक् आदि जड़ पदार्थोंमें भी सम्भव नहीं है; किन्तु अन्तःकरणादि उपाधियुक्त आत्मा भोगका आश्रयरूप है। शुद्ध आत्मा वस्तुतः किसी भोगका आश्रयरूप नहीं है। इसलिये भोग मिथ्या है। हे बालाकि! जो हृदयाकाशमें स्थित शुद्ध

आत्मारूप मैंने तुझसे कहा है, वही परमात्मा सर्व-संघातका अधिपति है । वही परमात्मा इस संघातके साथ तादात्म्य-अध्यासको प्राप्त होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा कठिनाईसे जाना जाता है । यदि आत्मा दुर्विज्ञेय न होता तो सर्व शास्त्रके जाननेवाले तुझको आत्माके यथार्थ स्वरूपमें भ्रान्ति नहीं होती । पूर्वमें तूने प्राणको ही आत्मारूप कहकर मुझे उपदेश किया था । यह तेरी भ्रान्ति ही आत्माकी दुर्विज्ञेयताका सूचन करती है ।

बालाकि–हे राजन् ! जब आनन्दस्वरूप आत्मा इस संघातमें दुर्विज्ञेय है तो संघातसे भिन्न किसी अन्य स्थानमें स्थित आत्माको जाननेके लिये उत्साह क्यों नहीं करना चाहिये ? संघातमें ही जाननेकी क्या आवश्यकता है ?

अजातशत्रु–हे बालाकि ! तू संघातसे भिन्न अन्य किसी स्थानमें स्थित आत्माको जाननेके लिये किञ्चित् भी उत्साह न कर । इस संघातमें ही आत्माको जाननेका उत्साह कर ! जैसे अग्निकी उपलब्धिके स्थानरूप काष्ठको त्यागकर काष्ठ-सम्बन्धसे रहित अग्निको प्राप्त करनेकी इच्छा कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं करता, सब काष्ठमें ही अग्निकी इच्छा करते हैं, इसी प्रकार आत्माकी उपलब्धिके स्थानरूप संघातको त्यागकर अन्य स्थलमें आत्माकी खोज करना व्यर्थ है । इसलिये हे बालाकि ! इस शरीरमें अन्तःकरणादि उपाधियोंसे रहित कूटस्थ आत्माको ब्रह्मरूपसे निश्चय करना चाहिये । हे बालाकि ! हृदयाकाशरूप सर्वका आत्मा ही शयनकर्ता पुरुषका तथा शयनका आधाररूप है, यही हृदयाकाशरूप आत्मा शयनकर्ता पुरुषके आगमनकी अवधि है । हे बालाकि ! वाक् आदि इन्द्रियोंका लयरूप शयन दो प्रकारका है, एक स्वप्नरूपी शयन और दूसरा सुषुप्तिरूप शयन । उनमें प्रथम स्वप्नरूपी शयनके कर्ता बुद्धिके सिवा सम्पूर्ण वाक् आदि हैं और सुषुप्तिरूपी शयनकी कर्ता बुद्धि है । इन दोनों प्रकारके शयनसे आगमन करनेवाला भी बुद्धिसहित वाक् आदि इन्द्रियोंका समूह है । यद्यपि पूर्वमें विज्ञानमय भोक्ताको शयनकर्तारूप तथा आगमनका कर्तारूप कह आये हैं तो भी यहाँ बुद्धिको और वाक् आदिको शयनकर्ता कहा है, इसलिये पूर्व और उत्तर-ग्रन्थमें विरोध प्रतीत होता है, परन्तु विचार करके देखा जाय तो विरोध नहीं है, क्योंकि बुद्धिविशिष्ट चैतन्यका नाम विज्ञानमय है । विज्ञानमयके चैतन्यअंशमें कर्तापना सम्भव नहीं है । परिशेषसे बुद्धिमें ही कर्तापना सम्भव है । इस अभिप्रायसे बुद्धिको शयनकर्ता कहा है, इसलिये पूर्वोत्तर-ग्रन्थका विरोध नहीं है ।

हे बालाकि ! प्राणरूप उपाधिमें और प्रज्ञारूप उपाधिमें जिस हृदयाकाशरूप आत्माका मैंने तुझे उपदेश किया है, उसी प्राणप्रज्ञा उपाधियुक्त आत्माका पूर्वमें देवराज इन्द्रको प्रतर्दन राजाने उपदेश किया था, आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारके प्रभावसे देवराज इन्द्रने तीनों लोकोंमें उपद्रव करनेवाले असुरोंको मारा था, नीतिरहित विश्वरूपादि ब्राह्मणोंका और विचारसे रहित बहुत-से संन्यासियोंका भी वध किया था, तो भी आत्मज्ञानके प्रभावसे देवराज इन्द्रका एक बाल भी बाँका नहीं हुआ । इस आत्मज्ञानके प्रभावसे ही देवराज इन्द्र सब देवताओंमें श्रेष्ठ समझा जाता है और युद्ध आदि कार्योंमें वह अन्य किसी देवकी अपेक्षा नहीं करता । बल नामक असुरसे लेकर बड़े-बड़े असुरोंको अकेले इन्द्रने ही पराजित किया था । इसलिये समस्त बलवानोंमें इन्द्र मुख्य बलवाला गिना जाता है । यह देवराज इन्द्र अपने तेजसे शोभित होता है, इसलिये विराट् कहलाता

है। हे बालाकि! जैसे अद्वितीय आत्माके ज्ञानके प्रभावसे देवराज इन्द्र सबका स्वामी हुआ, इसी प्रकार आजकल भी जो कोई विवेकादि साधनोंद्वारा आनन्द-स्वरूप आत्माके ज्ञानको सम्पादन करेगा, वह भी आत्मज्ञानके प्रभावसे सब जीवोंका स्वामी होगा।

बालाकि–हे राजन्! आप कहते हैं कि देवराज इन्द्रने आत्मज्ञानके प्रभावसे सब असुरोंको जीता, यह आपका कथन युक्त नहीं है, क्योंकि पुराणोंमें असुरोंसे इन्द्रका पराजय भी बहुत स्थलोंपर सुननेमें आता है।

अजातशत्रु–हे बालाकि! जबतक देवराज इन्द्र प्रजापतिके उपदेशसे आत्मज्ञानको प्राप्त न हुआ तभीतक देवराज इन्द्रको जीतकर असुर तीनों लोकों-के अधिपति हुए। प्रजापतिके उपदेशसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर इन्द्र असुरोंको मारकर तीनों लोकोंका अधिपति हुआ, इसलिये हे बालाकि! आनन्दस्वरूप अद्वितीय आत्माका ज्ञान सब विद्याओंसे श्रेष्ठ है, अतएव मनुष्योंके द्वारा सम्पादन करनेयोग्य है। इति द्वितीयाध्याय। (क्रमशः)

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

(गतांकसे आगे)

च्छी बात है, भरत आपके साथ कभी भ्रातृभावका त्याग नहीं कर सकते, यह मान लेते हैं। किन्तु यदि आपकी ओरसे ही कदाचित् भ्रातृभाव शिथिल हो गया तो फिर भरतकी भी एकतानचर्यामें कुछ अन्तर अवश्य ही पड़ेगा। इस शङ्काके कारण आगे कहते हैं—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः–मेरे-जैसे पिताके पुत्र भी सब नहीं होते।' पिताकी भी नहीं, पिताको द्वार बनाकर अपनी विमाताकी भी आज्ञा पानेपर जो सम्पूर्ण राज्यसुखोंको छोड़कर वनवासके कठिन दुःखोंको सह सकते हैं, ऐसे मेरे-जैसे पुत्र भी सब नहीं होते।

मान लीजिये, पिताने वनवासकी आज्ञा दे दी थी; किन्तु जन्मदात्री माता कौशल्या विप्रतिपन्न (असंमत) हो गयी थीं। कौशल्याने कहा था कि यह वचन राजाका नहीं, यह क्रूर वचन कैकेयीका है। 'वह मेरी सपत्नी है। अतएव सपत्नी होनेके कारण तुम्हारे विषयमें जो उसका अधर्म्य वचन है उसे सुनकर मुझे दुःखिनी छोड़कर तुम्हें जाना उचित नहीं'—

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः॥

'हे पुत्र! यदि मेरे निषेध करते हुए भी मुझे शोकसन्तप्त छोड़कर तुम चले जाओगे तो तुम नरकको प्राप्त होओगे जो जगत्प्रसिद्ध है'—

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्॥

कहिये, जब माताका इतना आग्रह था, तब यदि श्रीराम वनमें न जाते तो उनका दोष कौन समझ सकता था? क्योंकि माताका दर्जा पितासे बढ़कर शास्त्रमें गिना जाता है। कौशल्याने स्पष्ट कह दिया था कि—

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
साहं त्वां नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम्॥

'जिस तरह राजा तुम्हारे पूजनीय हैं मैं भी तुम्हारे लिये उसी तरह माननीय हूँ। मैं तुमको जानेकी अनुमति नहीं देती। अतएव तुम यहाँसे वन कभी नहीं जाना।' जब जननीकी यों स्पष्ट आज्ञा हो गयी थी तब श्रीराम यदि अयोध्यामें भी रहते तो भी उन्हें कोई दोषी नहीं कह सकता था; किन्तु परम्परासे ही सही, पितापर किसी तरह भी मिथ्यावादिताका कलङ्क न लगे इसलिये श्रीराम अपने सब सुखोंकी बलि देकर वनमें जानेको तैयार हो जाते हैं। इसीलिये यहाँ कहते हैं—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः–मेरे

सदृश पिताके पुत्र भी सब नहीं होते।' अर्थात् जब मैं भी पिताकी आज्ञा पानेपर सर्वसमृद्ध राज्यको भी ठुकराकर जङ्गलमें जाना ही अपना कर्तव्य समझता हूँ और राज्यपर लोलुप-बुद्धि नहीं रखता तब मेरी तरफ़से भी मातृभावके त्यागका प्रसङ्ग कैसे आ सकता है ?

यहाँ बड़ी भारी शङ्का एक यह उपस्थित होती है कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रके मुखसे महर्षि यह आत्मश्लाघा कैसे करवा रहे हैं। 'मेरे बराबर कोई सुपुत्र नहीं' यह तो स्पष्ट आत्मश्लाघा है। जब धीरोदात्त नायक-तकको साहित्यवाले 'कृपावान् अविकत्थनः—दयालु और अपने मुखसे अपनी प्रशंसा नहीं करनेवाला' चित्रित करते हैं तब आदर्श पुरुष, यावन्मात्र नायकोंके नायक श्रीरामचन्द्र अपने ही मुखसे अपनी प्रशंसा करें, यह क्या समंजस समझा जायगा ? इसका समाधान कुछ लोग तो यह करते हैं कि यह प्रशंसा नहीं, सत्य कथन है। सत्य बात कहनेमें आत्म-श्लाघाका दोष नहीं आता। महाकवि कालिदास तो भला साहित्यवालोंके लिये मार्गप्रदर्शक हुए हैं। उन्होंने तो अपने नाटकोंमें धीरोदात्त नायकको साहित्य-लक्षणोंसे लक्षित ही चित्रित किया है, किन्तु वह दुष्यन्तके मुखसे कहलाते हैं—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।

'सज्जनोंके लिये जहाँ सन्देहस्थल उपस्थित होता है वहाँ उनके अन्तःकरणकी वृत्ति ही प्रमाणभूत हो जाती है।' अर्थात् शकुन्तला हमारी प्रणयभाजन हो सकती है वा नहीं, इस संशयमें उसकी तरफ खिंचनेवाला मेरा हृदय ही कहे देता है कि शकुन्तला अवश्य क्षत्रियोंके द्वारा परिणेय है। यहाँ दुष्यन्त अपने मुखसे ही अपने आपको आदर्श सज्जन कह डालते हैं; किन्तु आजतक किसीने शाकुन्तलके नायकपर आत्मश्लाघाका दोष नहीं लगाया। क्योंकि यह श्लाघा नहीं, भूतार्थकथन है। महावीर हनूमान् तो सत्यपराक्रम और आदर्श योद्धा हैं। उन्हें अपने मुखसे अपनी तारीफ़ करके भला किससे क्या लेना था ? वह भी कहते हैं—

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेविते ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रधा ॥

'उड़नेमें गरुड़ तो सबसे वेगवान् गिने जाते हैं; किन्तु मैं आकाशमें उड़ते हुए गरुड़से भी आगे सहस्र प्रकारसे निकल सकता हूँ।' यहाँ हनूमान् अपनी गतिका सत्य परिचय दे रहे हैं, इसलिये इसे कोई आत्मश्लाघा नहीं कहता। 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेदमें दण्डी कहते हैं—

स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ।
अपि स्वनियमो दृष्टस्तथा स्वन्यैरुदीरणात् ॥

'सत्यकथनमें स्वगुणप्रशंसाका दोष नहीं आता। और दूसरे, नायक अपने मुखसे अपना वृत्तान्त कह दे—इसे दोष भी नहीं समझा जाता, क्योंकि कई जगह अपने मुखसे अपना वर्णन देखा जाता है।' अथवा—पूर्वोक्त समाधानादि करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ती। 'न सर्वे भ्रातरः' इत्यादि पद्यका तात्पर्य ही दूसरा है। श्रीरामचन्द्र कहते हैं—'हे तात ! सर्वे भ्रातरो भरतोपमाः न', सब भाई भरतके समान नहीं होते। जो कि भरत पिताके दिये हुए अपने राज्यको छोड़कर वनमें आते हैं और मुझसे कहते हैं कि यह राज्य तुम्हारा है, तुम्हीं लो। अतएव भरतके सिवा कोई दूसरा ऐसा त्यागी दीखता है ? इस बातको पुष्ट करनेके लिये दृष्टान्त देते हैं—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' 'जैसे मेरे समान पुत्र।' मेरे विरहका प्रसङ्ग पड़ते ही पिता लोकान्तरको चले गये, इस तरहका पुत्रवत्सल पिता जिसने प्राप्त किया हो ऐसा पुत्र मेरे समान दूसरा कोई होगा ? अपि तु, नहीं। इसी तरह 'सुहृदो वा भवादृशाः'—सुग्रीवसे कहते हैं कि 'जैसे तुम्हारे समान मित्र सब नहीं होते, जो अपने सब कार्य छोड़कर नाना प्रकारके कष्टोंको सहते हुए मित्रके कार्यके लिये प्राणपर्यन्तको कुछ नहीं गिनते। यहाँ 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः, सुहृदो वा भवद्विधाः' यह दोनों दृष्टान्त हैं। इनमें यदि कोई अतिप्रशंसा भी हो तो भी उसका तात्पर्य 'न सर्वे भ्रातरः' इस बातकी पुष्टिमें है। अर्थात् मेरे समान वत्सल पिताके पुत्र और तुम-सरीखे एकान्त मित्र जिस तरह दुनियामें दुर्लभ हैं इसी तरह भरतके समान भाई भी सब नहीं होते।'

अथवा—'मद्विधाः पितुः पुत्राः सन्तु मा वा, परन्तु भरतसमा भ्रातरस्त्वत्समाः सुहृदश्च न सन्ति' इत्यर्थः। 'मेरे समान, पिताके पुत्र हों वा न हों, कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु भरतके समान भाई और तुम्हारे समान मित्र कहीं नहीं दिखलायी देते।' इस अर्थमें आत्मश्लाघा-दोषका प्रसङ्ग ही नहीं आता। सच पूछिये तो जिन टीकाकारोंने 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' में आत्मश्लाघा-दोषकी शङ्का की है उनकी समझमें ही यह श्लोक नहीं आया है, ऐसा मालूम पड़ता

है। भगवान् श्रीरामचन्द्र यहाँ कह रहे हैं कि 'जो मेरे समान, पिताका वात्सल्यभाजन हुआ हो ऐसा पुत्र दुनियामें दूसरा नहीं है।' यहाँ पिताके प्रेम और वात्सल्यकी पराकाष्ठाकी तारीफ़ है। उसीके द्वारा फिर अपना सौभाग्य दिखाया गया है कि जिसे ऐसे वत्सल पिताके पुत्र होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो ऐसे बड़भागी पुत्र मेरे समान सब नहीं होते। यहाँ स्पष्ट झलक रहा है कि श्रीरामचन्द्र अपने पिता दशरथके वात्सल्यका स्मरण करके अपना अहोभाग्य बता रहे हैं। स्पष्ट ही यहाँ पिताकी प्रशंसा है। यदि यहाँ पिताके वात्सल्यकी प्रशंसामें तात्पर्य नहीं होता तो 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' यहाँ 'पितुः' पदकी कोई आवश्यकता न थी। 'मद्विधाः पुत्राः सर्वे न—मेरे समान पुत्र सब नहीं होते' यही कहना पर्याप्त था। बल्कि 'मेरे समान पिताके पुत्र' यों 'पिताके पुत्र' कहना तो उलटा भद्दा-सा मालूम होता है। परन्तु यहाँ पिताकी वत्सलताकी ही तारीफ श्रीरामचन्द्रको अभीष्ट है। अतएव आप कहते हैं 'मेरे समान वत्सलप्रकृति-पिताके पुत्र सब नहीं होते।' इस कथनमें ज़ाहिरा अपनी तारीफ दीखनेपर भी पिताके वात्सल्यकी ही सर्वात्मना स्तुति है। भक्त भगवान्से कहते हैं—'हे प्रभो! मेरे समान आज कौन बड़भागी होगा जिसको आपके समान दयालु स्वामी मिले हैं!' कहिये, क्या इस कथनमें भक्तपर आत्मश्लाघाका दोष लगाया जायगा?

राजा परीक्षित कहते हैं—

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः।
यत्पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्॥

'हे गुरो! हम गर्हणीय क्षत्रिय होनेपर भी आज अत्यन्त धन्य हैं जो आपके मुखसे निकले हुए पवित्र श्रीकृष्ण-कथामृतका बारंबार पान करते हैं।' कहिये, व्रत लेकर नियमानुसार श्रीमद्भागवतको सुनते हुए प्रशान्तप्रकृति परीक्षितपर भी क्या अपने मुखसे ही अपनी श्लाघा करनेका दोष लगाया जा सकेगा? नहीं, यहाँ स्पष्ट ही श्रीकृष्णकथामृतकी प्रशंसा वक्ताको अभीष्ट है। इसी प्रकार 'मद्विधा वा पितुः पुत्राः' में भी पिताके वात्सल्यकी ही प्रशंसा श्रीरामचन्द्र कर रहे हैं।

जिस समय कैकेयीने वनवासकी आज्ञा देनेके लिये श्रीरामचन्द्रको महलमें बुलवाया उस समय पुत्रवत्सल महाराज दशरथकी बड़ी करुणाजनक दशा थी। रामका वियोग होनेवाला है, इस विचारमात्रसे ही उनका हृदय तड़फड़ा रहा था। जैसे ही श्रीरामको सामने देखा, राजाका हृदय उमड़ आया।

रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम्॥

'वह केवल 'राम' इतनामात्र कह सके। आँखोंमें आँसुओंकी झड़ी लग गयी। दुःखकी दीनताके कारण राजासे न तो रामकी तरफ देखा ही गया और न कुछ बोला ही गया।' श्रीरामचन्द्र पिताकी यह दशा देखकर घबरा उठे। आपने बड़े विनयसे कैकेयीसे पूछा—

किं स्विदं यन्महीपतिः।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति॥

'आज यह क्या है कि महाराज बड़ी उदासीसे नीची दृष्टि किये आँसू बहा रहे हैं?' कैकेयीने सब विष उगल दिया। श्रीरामचन्द्रने मस्तक नवाकर उस आज्ञाको ग्रहण किया। आपने कहा कि 'मा! आप मेरे स्वभावको नहीं जानतीं। अन्यथा महाराजतक इस बातको पहुँचानेकी क्या ज़रूरत थी। मैं तो आपकी ही आज्ञासे वन जानेको तैयार था। मैं मातासे आज्ञा ले लूँ और सीताको समझा दूँ, इतनामात्र अवकाश दीजिये। मैं आज ही वन चला जाऊँगा—

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानामहं वनम्॥

राजा अपने शोकके आवेगको बड़े धैर्यसे अपने हृदयहीमें रोक रहे थे; परन्तु रामके ये वचन सुनकर उनका धैर्य टूट गया। जो महापराक्रमी दशरथ बड़े-बड़े संग्रामोंमें कभी विचलित नहीं हुए थे, जिनके धैर्य और पराक्रमपर मनुष्य ही क्या, देवताओंतकको बड़ा भरोसा था, संकट पड़नेपर देवतातक जिन्हें सहायताके लिये बुलाते थे, आज वे ही महाराज दशरथ साधारण दीनोंकी तरह अधीर हो रहे हैं। और तो क्या, स्त्रियोंकी तरह बड़े ज़ोरसे रो उठते हैं। 'शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम्।' क्यों? जो हृदय महासंग्रामोंमें निरन्तर बरसनेवाले शस्त्रोंके प्रहारोंसे कठिन पड़ गया है, जो हृदय शस्त्राघातोंके घट्ठोंके कारण स्पर्शमें भी लोहवत् कठिन मालूम होता है वह इस तरह एकदम व्याकुल क्यों हो पड़ा है? इसका कारण है श्रीरामचन्द्रपर असाधारण प्रेम। बड़ी-बड़ी साधनाओंसे

श्रीरामचन्द्र-सा पुत्र मिला था। आज वही वनको जा रहा है—

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥

बस, इसीलिये परमवत्सल महाराज दशरथ आज साधारण मनुष्योंकी तरह शोक-मूढ़ होकर रो पड़े हैं।

राजा दशरथ नाना तरहसे अनुनय-विनय करके कैकेयी-को समझाते हैं। जिन महाराज दशरथके चरणोंपर बड़े-बड़े वीरोंके, महाराजाधिराजोंके मस्तक नवा करते थे आज वही कोसलाधिपति महाराज दशरथ कैकेयीके सामने झोली पसारकर भीख माँगते हैं, पैरोंमें प्रणाम करते हैं कि रामको वनमें भेजनेका हठ छोड़ दो। आप कहते हैं—

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि॥
अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत्॥

'मेरे बुढ़ापेकी तरफ़ देखो। मैं थोड़े दिनोंका पाहुना हूँ। बड़ी दीनतासे प्रार्थना करते हुए मुझपर तुम्हें अवश्य करुणा करनी चाहिये।' जिस वीरहृदयको कभी किसीसे दीनवचन कहनेतकका अवसर नहीं पड़ा था आज वही यों दयाका भिखारी हो रहा है! क्यों! अपने पुत्र श्रीरामचन्द्र-पर असीम प्रेम होनेके कारण!

जब किसी तरह भी कैकेयी मृदु नहीं हुई तब राजा कहते हैं—'अच्छी बात है। रामको वनवास हो और भरत युवराजपदवीपर बैठें, यही तो तुम्हें वर दिया गया है।' किन्तु मैं भी राज्यसुख और धनादिको छोड़कर रामके पीछे-पीछे वनको चला जाऊँगा फिर तुम और राजा भरत यहाँ रहकर आनन्दपूर्वक राज्यभोग करना—

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम्॥

जो महाराज थोड़े दिनके पाहुने कहे जा रहे हैं वही उस वृद्धावस्थामें जङ्गलोंका कष्ट भोगनेको तैयार हैं। क्योंकि श्रीरामचन्द्रसदृश पुत्रके प्रति वात्सल्य उनकी आत्माको बलात् खींच रहा है। जब श्रीरामका वनगमन निश्चित हो चुका और विदेहनन्दिनी श्रीसीतातक चीरवल्कल पहनकर मुनियोंकी तरह वनप्रस्थानकी आज्ञा माँगने दशरथके पास आयीं, राजासे यह करुण दृश्य नहीं देखा गया। वे आँखें मूँदकर रो उठे। उन्होंने निश्चित कर लिया, यह दुःखमय दृश्य मैं नहीं देख सकूँगा। किन्तु हाय, हृदय नहीं माना। श्रीराम चौदह वर्षके लिये वनको जा रहे हैं। मैं उन्हें फिर जाते देख सकूँगा कि नहीं। एक बार इन नेत्रोंसे प्रिय पुत्रका मुखदर्शन तो कर लूँ। यह सोचकर राजा वनको जाते हुए श्रीरामचन्द्रको देखनेके लिये बड़ी लालसासे उठ खड़े होते हैं। साथमें, दीनतासे विलाप करता हुआ रनवास भी पीछे-पीछे जाता है—

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात्॥

राजा दशरथ उस दृश्यको देखकर सुखी होनेके बदले अत्यन्त शोकाभिभूत हो गये। उनके हृदयकी गति एकदम भयानक हो पड़ी। उन्होंने देखा कि तमाम अयोध्या महलके आगे उमड़ आयी है। सबके नेत्रोंसे आँसू बरस रहे हैं। श्रीरामके रथके पीछे लटक-लटककर बड़ी दीनतासे प्रार्थना कर रहे हैं—'हे सुमन्त्र! घोड़ोंकी लगाम जरा रोक लो। रथको थोड़ा धीरे-धीरे चलाओ। हम श्रीरामका मुख देखना चाहते हैं। हमारे लिये यह अब दुर्लभ हो जायगा'—

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति॥

दयालु श्रीरामचन्द्रसे यह करुण दृश्य नहीं देखा जाता। वे सुमन्त्रको तकाज़ा करते हैं—रथको जल्दी-जल्दी चलाओ। सूत बड़े असमञ्जसमें पड़ गये—

रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तदा।
उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः॥

राजा दशरथ इस दुःखमय दृश्यको अधिक देरतक नहीं देख सके। उनकी चेतना जाती रही, 'निपपातैव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः—जड़ कटनेपर जिस तरह वृक्ष गिर जाता है इस तरह भूमिपर गिर पड़े।'

राजा शोकविह्वल, घरमें विकल पड़े हुए, पुत्रके लिये पछता रहे हैं—हाय! मैंने ही तो अपने हाथोंसे पुत्रको वन

भेजा है। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि रामकी ज्यों-ज्यों याद आती थी, राजा इस तरह अनुताप करते थे जिस तरह कोई इच्छापूर्वक ब्राह्मणको मारकर पछताता हो, अथवा हाथोंसे अग्निको छूकर दुखी होता हो।

हत्वेव ब्राह्मणं कामात्स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं सञ्चिन्त्य राघवम्॥

जिन राघवके वियोगमें सम्पूर्ण अयोध्याके नर-नारी अपना-अपना घर छोड़-छोड़कर रामके पीछे-पीछे हो लिये, उस दिन अयोध्याके किसी घरमें सन्ध्याका स्वागत न हुआ, दीपकतक नहीं जला, पशु-पक्षियोंतकने भोजन छोड़ दिया, भला पुत्रवत्सल पिता दशरथके शोकका कुछ अन्त होगा? जिस समय श्रीराम रथमें बैठकर वनके लिये जाने लगे उस समय पुरवासियोंमें हाहाकार मच गया। लोगोंके आँसुओंके चौधारे बह रहे थे। तथ्यवाक् महर्षि वाल्मीकि उस समयकी दशा कहते हैं कि लोगोंके नेत्रोंसे इतना आँसू बहा कि भूमि सब तर हो गयी। पुरवासियोंके पैरोंसे रजका उड़ना बिल्कुल बन्द हो गया—

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः।
पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः॥

साधारण पौरजनोंकी क्या कथा! संसारत्यागी, कर्मैकनिष्ठ ब्राह्मणतक श्रीरामचन्द्रको जाता हुआ देखकर उनके पीछे-पीछे हो लेते हैं। वे कहते हैं कि—'हे रामचन्द्र! हमारे इन सफेद बालोंको देखो, जो आपके जानेके दुःखमें भूमिपर लोटनेसे धूलिधूसर हो रहे हैं। हमारे इन सफेद बालोंकी तरफ ही देखकर लौट चलो राम! बहुत ब्राह्मणोंके यज्ञ समाप्तिके समय आपकी प्रतीक्षा करेंगे। यदि उनमें अपूर्णता रह जायगी तो उसका अपराध आपको लगेगा। अतएव इस धर्मके अनुरोधसे ही लौट चलिये—

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः॥
बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने॥

'हे रामचन्द्र, देखो! आज पक्षी भी आहारके लिये जाना छोड़कर, और तो क्या शरीरका हिलना-डुलनातक छोड़कर शोकके मारे अपने वृक्षके कोटरहीमें बैठे हैं। सर्व प्राणीमात्रपर दया करनेवाले आपसे लौट चलनेके लिये याचना करते हैं'—

निश्चेष्टाहारसञ्चारा वृक्षैकस्थाननिष्ठिताः।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम्॥

फिर भला, पिता दशरथके हृदयकी दशा तो क्या पूछते हैं? कुछ ही घण्टे बीते होंगे कि उनकी दशा बिगड़ने लगी। आधीरात जाते-जाते तो वह कौशल्यासे कहते हैं—

न त्वां पश्यामि कौशल्ये साधु मां पाणिना स्पृश।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते॥

'हे कौशल्या! तुम मुझे दिखायी नहीं दे रही हो। तुम मुझे हाथसे अच्छी तरह छुओ। मेरी दृष्टि तो रामके साथ-साथ चली गयी, जो अभीतक भी नहीं लौटी।' हाय हाय! जो पिता अपने पुत्रके वियोगमें थोड़े ही समयमें अपने नेत्रतक खो बैठता है उस पिताके वात्सल्यकी तुलना कहीं मिल सकेगी? ऐसे पुत्रवत्सल पिता हर एकके भाग्यमें होंगे? इसीलिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि—'मद्विधा वा पितुः पुत्राः—मेरे सदृश, पिताके वात्सल्यभाजन सब ही पुत्र नहीं होते।'

राजा दशरथ राममयैकप्राण थे। हठपर चढ़ी हुई कैकेयीको उन्होंने साम-दाम-क्रोध आदि सभी उपायोंसे समझाया। जब किसी तरह भी नहीं मानी, तब झुँझलाकर कहा कि 'मालूम होता है, तुमको अब वैधव्यका योग है। मैं रामके वियोगमें कभी नहीं जी सकूँगा। मैं कहे देता हूँ कि यदि तुम अभिषेकके काममें विघ्न डालोगी तो शीघ्र ही इस अभिषेक-सामग्रीसे राम मेरी और्ध्वदैहिक क्रिया करेंगे। तुम और तुम्हारे पुत्रका मैं हाथतक नहीं लगवाना चाहता'—

रामाभिषेकसंभारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम्॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया।

श्रीरामके चले जानेपर जिस समय महलमें पड़े-पड़े राजा प्रलाप कर रहे थे उस समय भी उनके मुखसे यही निकला कि—हे कैकेयी! तू अब पूर्णमनोरथ हो जा। अब विधवा होकर इस राज्यमें रहना। मैं तो रामके बिना जीना नहीं चाहता—

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस।
न हि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे॥

राजा आकाशकी तरफ देखके फिर प्रलाप करते हैं—

हा हन्त कृतान्त !

अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः ।
वने व्याघ्री च कैकेयी त्वया किं न कृतं त्रयम् ॥

'हे क्रूर विधाता ! हमको निःसन्तान तथा रामको दूसरे राजाका पुत्र, और कैकेयीको जङ्गलमें सिंहिनी क्यों न बनाया।'

राजाका जीवन श्रीरामचन्द्रके साथ-साथ चल रहा था। जैसे ही श्रीराम वनकी तरफ चले, राजा एकटक उनके रथकी तरफ़ देखते रह गये। जब रथकी धूलि भी दीखती बन्द हो गयी तब मूर्च्छित-अवस्थामें महलमें लाये गये। उनका जीवनसूत्र इस आशापर अटक रहा था कि अभी रामके साथ सुमन्त्र है। कदाचित् राम उसीके साथ यहाँ लौट आवें। बस, कुहकिनी इस आशाके सहारे वह जी रहे थे। सुमन्त्र जिस समय अयोध्याके समीप पहुँचे उस समय शून्य, निःशब्द उस अयोध्याको देखकर वे डर गये। जो अयोध्यापुरी रात-दिन उत्साहमय, शब्दमय, मूर्तिमान् उत्सवमय बनी रहती थी, रातको भी जो एक तरहसे जागरूक ही रहती थी, आज वही इसप्रकार भयङ्कर और सूनी क्यों दीख रही है ? सब सामग्री और राजासहित यह अयोध्यापुरी रामकी शोकाग्निसे दग्ध तो कहीं नहीं हो गयी ?

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥

जैसे ही सुमन्त्र नगरके द्वारमें घुसे और रामके रथका शब्द हुआ कि उस सूनी अयोध्यापुरीमेंसे निकल-निकलकर नर-नारियोंका झुण्ड उस रथकी तरफ़ दौड़ा। सब पूछते थे—'श्रीराम कहाँ हैं।' उन दीनोंकी उस विकल वेदनाकी उपेक्षा सुमन्त्रसे नहीं हो सकी। सबको श्रीरामका वृत्तान्त समझाकर ढाँढस बँधाते थे। लोग विलाप कर रहे थे। हाय ! सुमन्त्र यहाँसे रामको लेकर गये थे; किन्तु बिना रामके लौट रहे हैं। हाय ! महारानी कौशल्याको वे क्या जवाब देंगे जो अपने प्यारे बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गौकी तरह उस रामशून्य महलमें चारों तरफ़ घूम रही है।

राजा दशरथने सुमन्त्रका आना जैसे ही सुना कि उनके निष्प्राण देहमें मानों फिरसे प्राण आ गये। उसी समय उन्हें महलमें लानेकी आज्ञा हुई, क्योंकि रामके पाससे आ रहे हैं न ? वहाँ सब काम बन्द थे। श्रीराममात्रकी चर्चा चल रही थी। वाल्मीकि कहते हैं—

तदाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ।

राजा बोले—हे सुमन्त्र ! तुम्हारे दैन्यसे मालूम होता है, तुम भी रामको छोड़कर चले आ रहे हो—

शून्यः प्राप्तो यदि रथो भग्नो मम मनोरथः ।
नूनं दशरथं नेतुं कालेन प्रेषितो रथः ॥

'यदि रथ खाली आया है तो मेरा सब मनोरथ टूट गया। मालूम होता है, अब दशरथको लेनेके लिये कालने यह रथ भेजा है !' 'सुमन्त्र ! मुझको रामका सब वृत्तान्त कहो। वे वनमें कैसे रह रहे हैं ? हे सूत ! रामका बैठना, सोना, भोजन करना इत्यादि सब मुझसे कहो। जैसे ययाति साधुओंसे[१] जीते थे वैसे मैं इसीसे जीऊँगा'—

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥

पुत्रका दर्शन तो कहाँ, जो पिता उसके वृत्तान्तको सुनकर ही मरा हुआ जीता है भला उसके वात्सल्यकी तुलना कहीं मिलेगी ?

सुमन्त्र धैर्य बँधानेके लिये श्रीरामका सब वृत्तान्त कहकर कहते हैं कि—जब श्रीराम लौटनेके लिये अनुमत नहीं हुए तब मैंने ही उनसे प्रार्थना की कि 'मेरी यह आत्मा आपके बिना अयोध्यामें प्रवेश करना नहीं चाहती। अतएव मुझे भी वनवासमें साथ ले चलनेकी आज्ञा दीजिये। हे राम ! इन घोड़ोंको तो देखो। इनकी क्या दीन दशा हो रही है। यह सदा मेरी आज्ञामें रहनेवाले हैं; परन्तु जब आपसे शून्य इस रथको लेकर जाऊँगा तब ये उसे कैसे ले जायँगे ?'

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥

श्रीरामने कहा कि हे सुमन्त्र ! मुझे पिताजीका बड़ा

१ ययाति इन्द्रके शापसे जब स्वर्गसे गिरने लगे तब उन्होंने यही माँगा था कि मुझे साधु पुरुषोंमें डाल दो। ययाति उस साधुसमागममें स्वर्गसे भी अधिक सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे।

ध्यान है। मेरे विरहमें उनकी क्या दशा होगी, यह बड़ा सन्देहस्थान है। इक्ष्वाकुवंशी राजाओंका तुम्हारे समान दूसरा हितैषी नहीं। अतएव राजा मेरा सोच न करें, ऐसा उपाय तुम करना—

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु॥

मैं मन मारकर वहाँसे लौटा तो सही; परन्तु मेरा अन्तरात्मा श्रीरामके पीछे-पीछे जाने लगा। हाय! मुझसे अधिक भाग्यवान् तो ये पशु घोड़े हैं जो रामके वियोगमें मुझसे अधिक विकल हो गये। बड़े-बड़े सङ्कटोंमें, सम्मुख युद्धोंमें कभी इन्होंने मेरी आज्ञा नहीं उलाँघी। इशारेमात्रपर ये बड़े उत्साहसे आगे बढ़ते थे; परन्तु रामको वनमें छोड़कर लौटते समय ये घोड़े किसी तरह अयोध्याकी तरफ आगे नहीं बढ़ना चाहते थे। इन्हें ज्यादा दबाता था, तो आँखोंसे गरम-गरम आँसू पटककर अपनी दीनता दिखाते थे—

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम्॥

राजाका शोक रामका वृत्तान्त सुनकर दूना उमड़ आता है। वे एकदम घबरा उठते हैं। कहते हैं—सुमन्त्र! यदि मैंने तुम्हारा कुछ भी भला किया हो तो तुम कृपा करके मुझे रामके पास पहुँचा दो। मेरे प्राण मुझे तकाज़ा कर रहे हैं। वे श्रीरामका दर्शन करके निकलना चाहते हैं—

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन्मया तु सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम्॥

पुत्रके वियोगमें जिस पिताकी यह हालत है भला, उसके वात्सल्यकी कुछ सीमा है? जिसको ऐसा वत्सलप्रकृति पिता मिला है, भला, उस पुत्रका सौभाग्य साधारण समझा जा सकता है? इसीलिये श्रीरामचन्द्रके मुखसे महर्षि कहलाते हैं कि —'मादृशा वा पितुः पुत्राः।'

राजचर्याके प्रसङ्गमें श्रीरामचन्द्रने पहले कहा था कि 'राजाओंमें प्रायः यह देखा जाता है कि व्यसन पड़नेपर पूर्व वैरको स्मरण करके एकपर एक प्रहार करनेको उद्यत हो जाता है' कहीं इस कथनसे सुग्रीव अपने ऊपर सन्देह-शंका न समझ बैठें, इसलिये श्रीरामचन्द्र आगे कहते हैं कि—'सुहृदो वा भवद्विधाः', 'हे सुग्रीव! तुम्हारे सदृश मित्र सब नहीं होते।' राजचर्यामें शत्रु भी अनेक हो जाते हैं तो मित्र भी बहुत बन जाते हैं; परन्तु मित्रके कार्यके लिये प्राणतकको कुछ नहीं गिननेवाले तुम्हारे सदृश मित्र सब नहीं हुआ करते। बालीके भयसे ऋष्यमूक पर्वतमें छिपे हुए सुग्रीव अबतक बड़ी दीनतासे काल बिता रहे थे। स्वजनोंसे मिलना कैसा, किष्किन्धाकी तरफ मुख करना भी उनके लिये मृत्युके समान था। अपनी प्राणप्रिया रुमासे मिलनेके लिये उनका हृदय अहर्निश तड़पा करता था, किन्तु दर्शनतक दुर्लभ था। किष्किन्धाधिपतिके अनुज होकर भी बड़े दुःखसे अपना समय काट रहे थे। दीन मनुष्य और-और दृष्टियोंसे चाहे दुखी गिना जाता हो परन्तु वह भी रूखी-सूखी खाकर अपने कुटुम्बके साथ आनन्दसे रहता है। यहाँ राज्याधिकारी होनेपर भी राज्य-सुख भोग तो कहाँ, अपनी प्रिय पत्नीका दर्शनतक दुर्लभ हो रहा था। किन्तु श्रीरामके अनुग्रहसे सुग्रीव जिस समय किष्किन्धाके राजा हो गये उनके सब दुःख निवृत्त हो गये। कहाँ एक स्त्रीमात्रसे मिलनेके मनोरथ किया करते थे और कहाँ अब अनन्त सुन्दरियोंसे भरे अन्तःपुरके एकमात्र नायक हो गये। राजलक्ष्मी उनके आगे हाथ बाँधकर खड़ी हो गयी। इतने दिन जो दुःख भोगा था उससे सहस्र-गुणित सुख सम्मुख उपस्थित थे। श्रीरामने भी सब कुछ सोच-समझकर वर्षाके चार मास उन्हें सुख-भोगका समय दे दिया। शरत्-काल आनेपर सुग्रीव अपने दूत भेजकर सीताका पता लगायें, यह बात निश्चित हो गयी।

बहुत कालसे उत्कण्ठित सुग्रीव राजसुख-भोगोंमें निलीन हो गये। बड़े मनोरथ करते-करते यह सुख बड़े कष्टसे प्राप्त हुआ था। बेचारे सुग्रीवका ही क्या दोष था? मेनकामें आसक्त तपस्वी विश्वामित्रतकको दस वर्ष एक दिनकी तरह बीत जाते हैं। इधर श्रीरामचन्द्र जानकीके वियोगमें इस वर्षाके एक-एक दिनको बड़े कष्टसे गिन-गिनकर बिता रहे थे। जैसे ही शरत्-काल आया और सुग्रीवके पाससे अबतक कोई सन्देश नहीं मिला तो श्रीरामको सुग्रीव-पर अत्यन्त क्रोध आया। आपने सुग्रीवके पास लक्ष्मणको भेजा और कहलाया कि 'क्या तुम मुझको भूल गये? क्या तुम क्रुद्ध हुए मुझको फिर सम्मुख युद्धमें देखना चाहते हो? इन्द्रके वज्रके समान मेरी प्रत्यञ्चाका शब्द फिर सुननेकी साध है?

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे ।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छसि ॥

'जिस रास्ते होकर बाली गया है 'न स संकुचितः' वह नष्ट नहीं हुआ है । वह मौजूद है । यहाँ सब टीका-कारोंने 'संकुचित' पदका 'नष्ट' अर्थ किया है; किन्तु महर्षिने जिस स्वारस्यसे 'संकुचित' पदका प्रयोग किया है वह इस अर्थमें नहीं । श्रीराम 'संकुचित' पदसे यह सूचित करते हैं कि 'तुम यह समझकर निश्चिन्त मत रहना कि बाली मर चुका है, अब मुझे क्या डर है ? नहीं नहीं, वह रास्ता इतना तंग नहीं कि अब दूसरा जा ही न सके । नहीं, जिसने बालीको मारा है वही तुम्हें भी उसी रास्ते होकर भेज सकता है । अपनी मर्यादामें बने रहो । बालीके रास्तेपर मत जाओ—

न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ॥

'याद रखना, पहले एक बाणसे अकेले बालीको ही मारा था; किन्तु जो तुम सत्यको उलाँघोगे तो तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित मारूँगा ।' जिसको अग्निके साक्ष्यसे मित्र बना चुके थे उसके प्रति यह वाक्य-प्रयोग, मैं समझता हूँ, कुछ कम उग्र नहीं है ।

फिर लक्ष्मण तो अभी नवयुवक थे । उन्हें तो क्रोध आ भी जल्दी ही जाता था । वह जिस समय किष्किन्धाके दरवाजेपर पहुँचे, उनकी चढ़ी हुई त्योरियाँ और उष्ण निःश्वास देखकर वीर वानरलोग घबरा गये । लक्ष्मणने सुग्रीवके अन्तःपुरके पास पहुँचकर प्रत्यञ्चाका शब्द किया । उस भयंकर शब्दको सुनकर सुग्रीव घबरा उठा । उसने लक्ष्मण-के क्रोधको शान्त करनेके लिये पहले ताराको भेजा, पीछे आप मिला । परन्तु इतनेपर भी लक्ष्मणके व्यङ्ग्यबाण कुछ कम तीव्र न थे । उन्होंने सुग्रीवसे कहा कि क्या तुमने मनुका पद्य सुना है—

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥

अर्थात् 'तुम कृतघ्न हो ।' यही नहीं वे आगे कहते हैं—

अनार्यस्त्वं कृतघ्नस्त्वं मिथ्यावादी च वानर ।

परन्तु सुग्रीव नतमस्तक होकर सब कुछ सुन लेते हैं । ताराद्वारा अपना अपराध क्षमापन कराते हैं । जब लक्ष्मणकी भृकुटि कुछ उतरने लगती है तब उनका भय कुछ कम होता है—

लक्ष्मणात्सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ।

वह इस समय किष्किन्धाके राजा थे । असंख्यात वानर उनके इशारेपर नाच रहे थे । वानर भी कैसे, श्रीमारुतिके समान, जो समुद्र उलाँघकर लंकाधिपतितकको श्रीरामचन्द्रका प्रभाव समझा आये थे । जब इतना बल-सञ्चय उनके पास था और अपना कार्य भी सिद्ध हो चुका था, फिर राजसिंहासनस्थ होकर भी इस तरहके मर्मभेदी वचन सह जाना प्रत्येक राजाओंका काम नहीं । परन्तु सुग्रीव इन सबके उत्तरमें कहते हैं—

प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात्सौमित्रे पुनः प्राप्तमिदं मया ॥

आप कहते हैं, खोई हुई लक्ष्मी और कीर्ति तथा यह पारम्परिक किष्किन्धाका राज्य हे लक्ष्मण ! मुझे श्रीरामचन्द्र-की कृपासे ही मिला है । मैं उन रामचन्द्रकी क्या सहायता कर सकता हूँ, जिनके प्रत्यञ्चाके शब्दमात्रसे पर्वतोंसहित यह पृथ्वी डोल उठती है । मैं तो—

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।

वह जिस समय रावणको मारने जायँगे उस समय पीछे-पीछे मैं भी चला जाऊँगा ।

प्राणपणसे सब तरहकी सहायता करता हुआ भी जो इस तरह अपनेमें विनीत भाव रखता है ऐसे मित्र क्या सर्वत्र सुलभ हैं ? इसीलिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि 'सुहृदो वा भवद्विधाः—हे सुग्रीव ! तुम्हारे समान मित्र भी सब नहीं होते ।' (क्रमशः)

मेरा स्वप्न

(लेखक—एक दर्शक)

आज शरद्-पूर्णिमा है, निर्मल गगनस्थलमें सुधाकर अपनी स्वच्छ चाँदनी छिटकाते हुए खिलखिलाकर हँस रहे हैं। उनके चारों ओर अगणित तारागण उदय होकर शोभा बढ़ा रहे हैं, मानों किसीने चारों ओर प्रकाशमय मोती बखेर दिये हैं। इधर पतित-पावनी कलिकलुषनाशिनी कालिन्दी न्यारी ही छटा दिखा रही हैं। इनका निर्मल जल बड़े वेगसे बह रहा है। त्रिविध वायुके सञ्चारसे उनके जलमें अनेक प्रकारकी तरङ्गें उठ रही हैं। कहीं-कहीं तीरपर खड़े हुए वृक्षोंकी जड़ोंसे टकराकर कल-कल-ध्वनि हो रही है, जो सुननेवालोंके कर्ण-कुहरमें प्रवेशकर आनन्दामृतकी मधुर धारा बहा रही है। तीरपर भाँति-भाँतिके वृक्ष केला-कचनार, आम, जामुन, कटहल, बेर, पलास, चम्पा, चमेली, केतकी, जुही इत्यादि फूलों और फलोंसे लदे हैं, जिनपर बैठकर नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं। कोयलोंकी कूहू-ध्वनि, पपीहोंकी पी-पुकार और भौंरोंका गुञ्जार चित्तको बरबस अपनी ओर खींच रहा है। ऐसे ही समयमें मैं घूमता-फिरता प्राकृतिक छटाको देखता हुआ कुछ दूर निकल गया, तो क्या देखता हूँ कि एक अति कमनीय-कान्ति बालक श्यामवर्ण, कमलनयन, पीताम्बर पहने, कछनी काछे, सब श्रृङ्गार किये, सिरपर मोर-मुकुट धारे, नटवर-वेष बनाये, चरण उठाये अधरोंपर वंशी धारे मन्द-मन्द मुसकुरा रहा है। फिर देखते-ही-देखते वहाँ बहुत-सी दिव्य देवियाँ नाना प्रकारके रंग-बिरंगे वस्त्रोंको पहने सुन्दर श्रृंगार किये आ पहुँचीं। सबने उस बालकका अभिनन्दन किया। इसके बाद उस विचित्र बालकने कुछ रूखे-से होकर कहा कि रातके समय इस भूत-प्रेतकी बिरियाँमें भयावनी बाटसे तुमलोग इस महावनमें क्यों आयीं? ऐसा साहस करना स्त्रियोंका धर्म नहीं है। कुलशीलवती स्त्रियोंका परम धर्म अपने पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करना और अपने गृहकार्यको सुदक्षतासे करते रहना है। अतएव अब तुमलोग तुरन्त लौट जाओ। इतना वचन उस बालकके मुँहसे सुनते ही सब युवतियाँ मानों अपार शोकसागरमें डूब गयीं और घबराकर रो-रोकर कहने लगीं। 'अहो मोहन! तुम बड़े ही निष्ठुर हो। पहले तो तुमने वंशी बजाकर हमारा मन हरण कर लिया, अब कठोर वचनोंसे प्राण भी लिया चाहते हो।' श्यामसुन्दर मुसकुराये और सबको साथ लेकर यमुना-किनारे पहुँचे। वहाँ एक मण्डलाकार चबूतरा बना था, जिसमें चारों ओर मोती जड़े हुए सपल्लव केलेके खम्भ लगाये हुए थे। उनमें बन्दनवार और भाँति-भाँतिके फूलोंकी माला बाँधी हुई थी। वहाँ जाकर सबने अनेक प्रकारके वाद्ययन्त्रोंमें सुर मिलाकर नाचना-गाना आरम्भ किया। उस समय वे सब नाचने-गानेमें इतने तल्लीन हुए कि किसीको भी देहकी सुधि न रही। अबतक तो मैं लुक-छिपकर यह सब देख रहा था पर अब मुझसे नहीं रहा गया। मैंने चाहा कि मैं भी उनके पास जाकर उनके सङ्ग नाचूँ, पर जैसे ही मैंने दौड़कर जाना चाहा, वैसे ही मेरी माताने आकर मुझे जगाया और आवाज दी कि क्या आज स्नान करने नहीं जाओगे। बस, निद्रा भङ्ग हो गयी, देखा सूर्योदय होनेमें अब अधिक देर नहीं है। मेरा उल्लास मनमें ही रह गया और मैं हाथ मलता रह गया। जब यह घटना याद आती है तो शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगती है। यह स्वप्नकी सच्ची घटना है।

प्रेम-दिवाने

(लेखक—'श्रीप्रेम-पथ-पथिक')

प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
कबहूँ मुँह हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन॥

सचमुच जिन्हें प्रेमकी मस्ती चढ़ गयी है, जिन्हें प्रेमप्यालेके मतवाले मदकी एक बूँदका भी रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और जो प्रेम-पथमें दिवाने हो गये हैं, वास्तवमें वे ही उस प्रेमीके दीदारको पानेके हकदार हैं और ऐसे ही दिवाने प्रायः—

'मैं मोर बनके मोहन, नाचा करूँगा वन-वन।
तू श्याम घटा बनकर आँखोंमें समा जाना॥

—की तान छेड़ते पाये जाते हैं। उन्हें राहगीरोंसे लज्जा नहीं, देखनेवालोंसे भय नहीं, पुलिसकी परवा नहीं और जानकारोंकी चिन्ता नहीं। वे तो अपनी ही मस्तीमें मस्त रहते हैं, अपनी ही धुनके घोड़ेपर सवार रहते हैं और अपनी अनोखी डफली बजानेमें ही लगे रहते हैं।

इन प्रेम-दिवानोंकी दुनिया ही न्यारी होती है, इनका रोना-हँसना विचित्र होता है, उठना-बैठना अनोखा होता है और खाना-पीना भी निराला होता है। इनको रोने-हँसने, जागने-सोने और रहने-सहनेका कोई पता ही नहीं रहता। देखनेवालेको मालूम होता है मानों इनकी कोई अत्यन्त प्यारी चीज़ खो गयी है, जिसकी तलाशमें ये रातों गलियोंकी खाक छानते फिरते हैं। यदि कहीं इन्हें 'संतन सँग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई' वाली मीरा देख ले तो वह इनके सुरमें सुर मिलाकर अवश्य गाने लगे—

हे री मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोणो होय॥
गगन-मँडलपर सेज पियाकी, किस विध मिलणो होय।
घायलकी गति घायल जाने, जो कोइ घायल होय॥

वास्तवमें मीराने बात तो बड़े पतेकी कही है। भला, जिसे कभी प्रेम-बाण नहीं लगा हो वह इस दर्दका हाल क्या जाने! जो सूलीपर चढ़ गया है वह कैसे सोये? सचमुच इस प्रेम-प्यालेमें एक अजीब नशा है। जिसने एक बार पी लिया वह वेदामका गुलाम बन गया। उसे सोते-बैठते, हँसते-रोते और चलते-फिरते कभी चैन नहीं। इस मर्जकी दवा भी मिलना मुश्किल ही है। तारीफ तो यह है कि 'ज्यों-ज्यों दवाकी मर्ज बढ़ता ही गया।' कहीं घटनेका नाम नहीं। आँखें क्या हो गयीं मानों सावन-भादोंकी उमड़ी हुई गंगा। इसीलिये तो महात्मा कबीरने कहा है—

प्रेम-पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेमका लेय॥

ओह! इस दिव्य प्रेमकी आग भी बड़ी ग़ज़बकी है, जहाँ एक बार लग गयी फिर कभी बुझती ही नहीं। नींद और खाना-पीना सब हराम हो जाता है। इसका इलाज करनेवाले वैद्य-डाक्टर भी जल्दी नहीं मिलते। कहीं एकाध नीम-हकीम मिल भी गये तो फीस इतनी माँगते हैं और ओषधिका मूल्य इतना अधिक चाहते हैं कि मरीजके मूल्यसे भी मर्जकी कीमत बढ़ जाती है। जब मीराको प्रेम-लहर सताने लगी तो मीराने अपने इस नये मर्जकी दवाके लिये न मालूम कितनी गलियोंकी खाक छान डाली, पर कोई चतुर वैद्य न मिला। अन्तमें खोजते-ढूँढ़ते उसने बिलख-बिलखकर कहा—

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्यो नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटै जब बैद साँवलियो होय॥

वास्तवमें 'साँवलिया' वैद्य मिल जाय तो फिर बेड़ा पार हो जाय।

इतना होनेपर भी यह प्रेमकी आग है बड़ी शीतल, जो इसमें कूद पड़ता है वही स्वर्गीय शीतलताका अनुभव करता है। परन्तु देखनेमें यह बड़ी भयानक है। इसीसे पूरे त्यागी विरागी भगवत्-रस-रसीले ही इस सुलगती हुई आगमें कूदनेका साहस करते हैं। इसके अधिकारी उँगलियोंपर गिने जाने लायक हैं, क्योंकि—

सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहे, ऐसा हो तो आव॥

बात भी ठीक ही है। प्रेम-पथपर चलना क्या है मानों दु-धारी तलवारकी धारपर चलना है। जरा-सा इधर-उधर हुए कि बस, अड़ड़ड़धड़ाम। पर इससे क्या ? प्रेम-पथ-पथिक इन अड़चनोंसे डरनेवाले थोड़े ही हैं। वे तो हर समय लोहेके चने चबानेको तैयार रहते हैं और उनका एक पैर सदैव सूलीही-पर रहता है। वे तो इस बातके लिये तैयार ही रहते हैं कि उनके सिरका गेंद बनाकर बीच बाजारमें खेला जाय। उनके शरीरकी बोटियाँ पशु और पक्षियोंको खिला दी जायँ। उन्हें कड़ी-से-कड़ी यातनाएँ दी जायँ और उन्हें नुकीले काँटोंपर इसलिये सुलाया जाय कि जिससे वे प्रेम-प्यारे मीतको एक पलके लिये भी भूल न जायँ।

प्रेम-दिवानोंकी दुनिया और हमारी दुनियामें बड़ा अन्तर है, आसमान-जमीनका फर्क है। हमारी दुनियामें प्रेमका रूप इतना बदल गया है कि हम प्रेमको समझ ही नहीं सकते। हम कामका ही प्रेमके नामपर प्रयोग करते हैं और पवित्र प्रेमको कलङ्कित और कलुषित करनेकी चेष्टामें अपना ही मुँह काला करते हैं। सच पूछो तो प्रेमके सच्चे अधिकारी प्रेम-दिवाने ही हो सकते हैं जो प्रेमकी वेदीपर हँसते-हँसते बलिदान हो जानेमें अपना अहोभाग्य समझते हैं।

प्रेमके दिवाने थे भक्त हरिदासजी। यवनोंने उनके साथ कैसे-कैसे अमानुषिक अत्याचार किये पर वाह रे प्रेम-दिवाने ! तूने उफतक नहीं किया !! कोड़ोंकी मारसे शरीरकी चमड़ी छिल जाने और रक्तकी धारा बहनेपर भी तूने एक वीर और सच्चे प्रेमीकी भाँति उन काजी नामधारी अत्याचारियोंके लिये भगवान्से क्या ही उत्तम प्रार्थना की। भक्त हरिदासने अपने प्रभुसे कहा—'हे प्रभु ! ये भूले हुए हैं। इन भूले हुए मनुष्योंको तू क्षमा प्रदान कर। यदि इन्हें समझ ही रहती तो मेरे साथ ऐसा क्रूर व्यवहार क्यों करते। हे पतितपावन ! इन पतितोंका उद्धार कर, इनके अपराधोंको क्षमा कर। हे दयासिन्धु ! कहीं ऐसा न हो कि मेरे कारण इन्हें कष्ट भोगना पड़े। मुझे चाहे जितना कठोर दण्ड दे, सहर्ष स्वीकार है पर हे नाथ ! इन कुमार्गगामियोंको क्षमा प्रदान कर इन्हें सन्मार्गपर ले आ।'

प्रेमकी दिवानी थी भक्तिमती मीरा। उसे अनेक कष्ट दिये गये। उसपर अनेक लाञ्छन लगाये गये। उसके मारनेके लिये अनेकों उपाय किये गये, पर वाह री मीरा ! तू तो उस प्रेमीका दीदार पा चुकी थी, तुझे तो उस प्रेम-प्यालेका चसका लग चुका था। भला, तू उसे कैसे छोड़ सकती थी। लोग हजार अत्याचार तुझपर करें। तेरे सम्बन्धी तुझे मारनेके लिये लाख उपाय करें पर तू तो उस प्रेमीके हाथ बिक चुकी थी जिसके राज्यमें दुःखका नाम भी नहीं और जिसके दामनकी छाँहमें दुनियाकी परवा नहीं।

बात भी ठीक है। जिसपर उस प्रभुकी दया हो जाती है फिर वह किसीके हाथ कैसे लग सकता है। वह प्रेम-दिवाना संसारका व्यवहार जानता ही नहीं। मान-अपमानका उसे बोध ही नहीं रहता। हानि-लाभका उसे ज्ञान ही नहीं। वह तो बस, अपने प्रेमीके लिये ही बेहाल रहता है।

'प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाय।'

ब्रह्मविद्या और गृहस्थाश्रम

(लेखक—स्वामीजी श्रीनित्यानन्दजी भारती)

ब्रह्मविद्या अथवा आत्मतत्त्वज्ञानके विषयमें कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि यह विद्या गृहस्थाश्रम-में उपयोगी नहीं है और न इसके द्वारा कोई सच्चा गृहस्थ सुखी ही हो सकता है। इसी कारण कुछ लोगोंका यह भी विश्वास है कि ब्रह्मविद्या गृहस्थाश्रमका त्याग करनेपर ही प्राप्त की जा सकती है अथवा गृहस्थाश्रमका ब्रह्मविद्यामें अधिकार ही नहीं है। हम इस लेखमें इसी विषयपर विचार करेंगे कि क्या वास्तवमें गृहस्थाश्रम ब्रह्मविद्याका अनधिकारी है? क्या गृहस्थ होते हुए ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं किया जा सकता? क्या उसको इसीलिये आत्मतत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये कि वह गृहस्थी है?

यद्यपि इस विषयपर शब्दप्रमाण ही अपेक्षित है तथापि युक्ति-विचारके लिये भी इस क्षेत्रमें पर्याप्त स्थान है अतः पहले यौक्तिक विचार किया जाता है—

कहा जाता है कि गृहस्थ कर्मकाण्डका आश्रम है और कर्मकाण्ड अपने उपकरणों अर्थात् यज्ञादिकी सामग्रीके बिना सिद्ध नहीं हो सकता अतएव गृहस्थमें संग्रहके बिना कार्य नहीं चल सकता और ब्रह्मविद्या त्यागका उपदेश करती है। अतः संग्रह और त्याग परस्परविरोधी होनेसे एक आश्रमके विषय नहीं हैं, पृथक्-पृथक् आश्रमोंके विषय हैं। इसीलिये गृहस्थाश्रमका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म और त्यागसे यहाँ निष्कामभावनाका उद्देश्य है। त्याग कामना—स्वार्थ और घृणायोग्य पाप कर्मोंका है न कि निष्काम शुभ कर्मोंका। हम ऐसे लोगोंको देख सकते हैं कि जो अपना तुच्छ स्वार्थ न रखकर उपकार-बुद्धि अथवा चित्तशुद्धिके लिये कर्म करते हैं और ऐसे भी लोगोंको देख सकते हैं जो त्यागी और ज्ञानी कहलाते हुए भी संग्रही हैं। कर्मका सर्वथा त्याग करना असम्भव है। कामना अथवा स्वार्थ ही दुःखका हेतु है। शरीर-रक्षाके लिये कर्म करना ही पड़ेगा, चित्तको शुद्ध रखनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्यायादि करने ही होंगे। कुछ-न-कुछ संग्रह किये बिना यह काण्ड भी पूरे नहीं हो सकते। अतः एक ही आश्रममें यह एक होकर रह सकते हैं। एक गृहस्थी आसक्ति और फलकामनाको त्यागकर दान-पुण्य और अन्यान्य कर्तव्य कर्मोंको करता हुआ त्यागी कहला सकता है और एक संन्यासी या बाह्य त्यागी स्वार्थमें लिप्त होकर अथवा मनमें संसारके भोगोंकी लालसा रखकर संन्यासी या त्यागी नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि यदि गृहस्थी ब्रह्मविद्याको प्राप्त कर लेगा तो वह भी ब्रह्मविद्याका उपदेशक या आचार्य हो जायगा जिससे संन्यासियों या त्यागियोंकी मान-मर्यादामें फ़र्क़ आ सकता है। परन्तु ऐसा नहीं है यह दोष वहाँ आ सकता है जहाँ ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेवाला महात्मा अधिकारी-अनधिकारीका विचार किये बिना ही ब्रह्मविद्या-की मान-मर्यादामें फ़र्क़ लाता है। वास्तवमें जो शान्त और सज्जनोचित-स्वभाववाला सात्त्विक मनुष्य है उसको उपदेश देनेसे कभी हानिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये और यदि ऐसा गृहस्थी उपदेष्टा हो जावे तो उसे आचार्य माननेमें भी सङ्कोच नहीं करना चाहिये। कोई जिज्ञासु यदि ब्रह्म-विद्याका सच्चा ग्राहक है तो उसे किसी भी ब्रह्मज्ञानीका अनादर नहीं करना चाहिये। उसका यह काम नहीं है कि वह लोगोंके बाहरी चिह्नोंकी उधेड़-बुनमें लगा रहे अपितु उसे आत्मतत्त्वके विषयमें किसी भी ज्ञानीसे अपनी तृष्णा शान्त कर लेनी चाहिये।

यह भी कहा जाता है कि—यदि गृहस्थाश्रममें ही ब्रह्मविद्याका उपार्जन कर लिया जावेगा तो संन्यास या त्यागका आश्रम अनावश्यक हो जावेगा। यह कहना भी ठीक नहीं। त्यागका महत्त्व सदा ही रहता है। ज्ञानी गृहस्थ भी वानप्रस्थ या संन्यासकी इसलिये दीक्षा लेना चाहेगा कि उसे ज्ञानानुकूल आचार सम्पादन करने और विघ्न-बाधाओंसे परे रहनेमें सहायता मिले; यही कारण है कि ब्रह्मविद्याके आचार्य ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यने पूर्ण तत्त्ववेत्ता होते हुए भी संन्यास लेना—नहीं-नहीं संन्यास करना आवश्यक समझा था। याज्ञवल्क्य-जैसे पूर्ण ब्रह्मज्ञानी, आजकलके गृहस्थ नहीं हैं जो अड़ियल टट्टूकी तरह गृहस्थमें पड़े रहना ही जीवनकी इतिश्री समझते हैं और मोहका त्याग न करनेमें ही ज्ञानका प्रयोग जानते हैं। अतः

घबराना नहीं चाहिये। वर्ण और आश्रमोंकी व्यवस्था ईश्वरीय ज्ञानके आधारपर व्यवस्थित है। वह स्वयं मनुष्यों-को अपनी ओर आकृष्ट करेगी और उसपर चलनेके लिये विवश करेगी।

आशय यह है कि आश्रम-व्यवस्था होनेपर भी ब्रह्म-विद्याका उपदेश योग्य गृहस्थको दिया जा सकता है और इसप्रकार करनेसे ब्रह्मविद्याका दुरुपयोग नहीं समझा जा सकता। सच पूछिये तो ब्रह्मविद्याकी—यह जाननेकी कि आत्मा असंग है, निर्लेप है, शोकसे परे है, आत्मा जन्म और मरणमें नहीं आता—आत्माका कुछ करनेसे लाभ नहीं और न करनेसे कुछ हानि नहीं, इत्यादि विचारोंकी—जितनी आवश्यकता संसारकी उलझनोंमें फँसे हुए गृहस्थीके लिये हैं उतनी और किसीके लिये नहीं। जैसे मैले वस्त्रोंके लिये साबुनकी आवश्यकता है, शुद्ध और साफ-सुथरोंके लिये नहीं, जैसे डूबते या गोते खाते हुए व्यक्तिके लिये नौकाकी आवश्यकता है, परन्तु किनारेपर पहुँचे हुएके लिये नहीं, अथवा रोगीको ओषधिकी आवश्यकता है, नीरोगके लिये नहीं, या जैसे बाल-बच्चेवाले दरिद्रके लिये घर और धन-धान्यादिकी आवश्यकता है इत्यादि। इसी प्रकार गृहस्थाश्रमके लिये ब्रह्मविद्याकी आवश्यकता है।

अस्तु, यह विचार यौक्तिक दृष्टिसे किया गया है परन्तु इसपर श्रौत या प्रामाणिक दृष्टि भी डाली जानी चाहिये इसलिये इतने आवश्यक विचारके बाद अब हम यह विचार करते हैं कि इस विषयमें श्रुति-स्मृतिका क्या सिद्धान्त है और ऐतिहासिक दृष्टिसे क्या सिद्ध होता है।

(१) यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखाकी बृहदारण्यक उपनिषद्में कई स्थानोंपर याज्ञवल्क्य ऋषिका उपदेश मिलता है जो कि कहीं जनकको और कहीं अन्य ऋषियोंको तथा स्त्रियोंको उपदेश किया गया है। तीसरे और चौथे अध्याय-में इसका विस्तार है। इस उपदेशका विषय आत्मविज्ञान और ब्रह्मकी पहचान है और उपदेश करनेवाले तथा शङ्काओंका समाधान करनेवाले वेदाचार्य ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य हैं तथा उपदेश्य या शिष्य महाराजा जनक, तथा लाह्यायन, उद्दालक और शाकल्यादि ऋषि हैं और इसी श्रेणीमें गार्गीदेवी और मैत्रेयी भी हैं। ये दोनों देवियाँ उच्च ब्राह्मण-कुलकी पुत्रियाँ हैं। दोनों परम विदुषी हैं। गार्गी, ऋषिका—ऋषिकोटिकी स्त्री हैं और मैत्रेयी ऋषि याज्ञवल्क्यकी धर्मपत्नी है। यहाँ यह ध्यान रखनेयोग्य बात है कि याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रमी हैं और मैत्रेयी भी गृहस्थिनी है, राजा जनक और उद्दालक भी गृहस्थ हैं—गुरु और शिष्य दोनों गृहस्थ हैं।

(२) प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल—ये पाँच महाश्रोत्रिय और बड़े भारी गृहस्थ एकत्रित होकर सोचने लगे कि 'को न आत्मा किं ब्रह्म' कौन आत्मा है और कौन ब्रह्म है। जब निर्णय न हो सका तो यह तै हुआ कि आजकल हमारे प्रान्तमें उद्दालक ऋषि वैश्वानरविद्याका अच्छा जानकार है, चलो उसकी शरणमें चलकर आत्मज्ञान लाभ करें। जब ये लोग उद्दालकके पास पहुँचे तो उद्दालकने कहा कि 'चलो—महाराज अश्वपतिके पास चलें। वह हमें ब्रह्मविद्याके रहस्य बतलावेगा।' इन लोगोंको अपने ब्राह्मणत्वका विचार था अतः राजाने टालमटोल की परन्तु जब दूसरे दिन समित्पाणि होकर शिष्यभावको स्वीकार कर लिया और राजाको गुरु मान लिया तो उसने ऋषियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। इस कथामें ऋषियोंने महाराज अश्वपतिके लिये 'भगवो राजन् भगवान्' महाराजका शब्द प्रयुक्त किया है। स्मरण रहे कि भगवान् शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्याके आचार्यों-के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। यह कथा सामवेदकी छान्दोग्य उपनिषद्के पाँचवें प्रपाठकमें वर्णित है। यहाँ वैश्वानरविद्याके उपदेष्टा आचार्य राजर्षि अश्वपति हैं और शिष्य उद्दालकादि ब्रह्मर्षि हैं—दोनों गृहस्थ हैं। शतपथ ब्राह्मणके दसवें काण्डमें भी इस कथाका उल्लेख है।

(३) उद्दालक ऋषिका पुत्र श्वेतकेतु छोटी आयुमें उद्दण्ड-सा—आवारागर्द हो गया था, पहले तो ऋषिने स्नेहवश कुछ नहीं कहा परन्तु जब देखा कि यह उच्छृङ्खल हुआ जाता है तो उसे इसप्रकार उपदेश किया—

न वै अस्मत्कुलीनो ननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवति।

'हमारे कुलमें उत्पन्न होनेवाला कोई बालक ब्रह्मबन्धु-सा नहीं हुआ। तू क्यों वेदाध्ययन छोड़कर कुलमर्यादाको दाग लगाता है।' श्वेतकेतु उस समय बारह वर्षका था। वह ऐसे वचनोंको न सह सका और किसी गुरुकुलमें विद्या-ध्ययन करने चला गया। जब वह बारह वर्षके बाद पिताके पास आया तो बड़ा अहङ्कारी प्रतीत होता था। उसने पिता-को नमस्कारतक न किया। श्वेतकेतुकी समझ थी कि मैं

वेदोंका अद्वितीय विद्वान् हूँ और मेरा पिता वेदवेत्ता नहीं है। जब उद्दालकने उसके इसप्रकारके भाव देखे तो यह कहा—'बेटा, तुमने वह आदेश जाना है जिससे अमत मत और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ?' श्वेतकेतुने कहा—'नहीं।' इस आख्यानमें श्वेतकेतु स्नातक है और ब्रह्मविद्यासे शून्य है। उद्दालकको यह अभीष्ट नहीं कि उसकी सन्तान ब्रह्मविद्यासे वञ्चित रहे। अतः गृहस्थाश्रममें भेजनेसे पूर्व ही उद्दालककी इच्छा है कि श्वेतकेतुको ब्रह्मविद्या दी जावे। ऐसा ही होता है और कई प्रकारके प्रकरणोंका विचार करते हुए उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि' का उपदेश करते हैं। यह कथा छान्दोग्य उपनिषद्के छठे प्रपाठकमें उद्धृत की गयी है। इस कथाका उपदेष्टा उद्दालक और शिष्य श्वेतकेतु है। गुरु गृहस्थ है और शिष्य ब्रह्मचारी है।

(४) जाबाल सत्यकामके गुरुकुलमें बहुत ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करते थे। जब स्नातक होनेका समय आया तो कई तो विद्या समाप्त करके स्नातक होकर अपने-अपने घरोंको चले परन्तु उपकोसल नामक ब्रह्मचारीको बारह वर्ष तपोव्रत करनेपर भी स्नातक नहीं होने दिया गया। जब उपकोसलने सत्यकामसे कारण पूछा तो सत्यकामने उसपर ध्यान नहीं दिया। इसपर उपकोसलने खाना-पीना छोड़ अनशन आरम्भ कर दिया। सत्यकामकी धर्मपत्नीको यह बात बहुत बुरी लगी और उसने अपने पति आचार्य सत्यकामसे कहा-सुनी की और उपकोसलको भी समझाया इत्यादि। बादमें आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मविद्या सिखायी और स्नातक करके घर भेजा। यह कथा भी छान्दोग्य उपनिषद्के चौथे प्रपाठकके दसवें खण्डमें है। यहाँ भी ब्रह्मविद्याका आचार्य सत्यकाम जाबाल ऋषि गृहस्थ ही है।

(५) श्वेतकेतु अपने आपको बड़ा तत्त्ववेत्ता समझता था। वह एक बार पाञ्चाल-देशके राजा प्रवाहणकी सभामें जा पहुँचा, वहाँ राजासे उसकी बातें हुई जिससे उसको पता लगा कि वह तो तत्त्वज्ञ नहीं है। उसने श्वेतकेतुको लज्जित करनेके लिये पाँच प्रश्न किये। प्रश्नोंको सुनकर श्वेतकेतु अवाक् रह गया और दुखी होकर उद्दालकके पास आया। जब पिताने सब प्रश्न सुने तो कहा कि 'बेटा, इन प्रश्नोंको तो मैं भी नहीं समझा सकता, अतः चलो हम दोनों प्रवाहणसे यह विद्या सीखकर आवें।' जब पिता-पुत्र पाञ्चालराजके पास गये तो उसने उनका बड़ा मान किया, परन्तु जब उद्दालकने पाँचों प्रश्नोंका उत्तर माँगा तो राजा 'कृच्छ्री बभूव' अत्यन्त दुखी हुआ और कहने लगा कि 'बहुत काल यहाँ निवास करो। जब देखूँगा कि अधिकारी हो, तो उपदेश करूँगा।' पश्चात् राजाने उद्दालकको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। यह विद्या आत्माकी गति-प्रत्यागतिके सम्बन्धमें है और इसके द्वारा पुनर्जन्मके सिद्धान्त समझे जाते हैं। इसी कारण इसको पञ्चाग्नि-विद्या कहते हैं। यह कथा छान्दोग्य उपनिषद्के पाँचवें प्रपाठकमें कथन की गयी है, आचार्य गृहस्थ राजा प्रवाहण है और शिष्य उद्दालक ऋषि हैं।

(६) काशिराज अजातशत्रुको बालाकि ब्रह्मविद्याका उपदेश देने गया। राजाने उसको सिर-आँखोंपर उठाया, परन्तु बातचीत होनेपर पता लगा कि बालाकिको परले सिरेका पता नहीं है, तब वह परास्त हो गया और गुरु बनता-बनता शिष्य हो गया। बालाकिने अभिमान छोड़ राजाको गुरु मान लिया और परब्रह्म-ज्ञानकी भिक्षा माँगी, राजाने उसके विनीत स्वभावपर प्रसन्न होकर बिना उपनयन किये ब्रह्मविद्याका उपदेश कर दिया, यह संवाद बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे अध्यायमें वर्णित किया गया है, इस विद्याका आचार्य भी राजा अजातशत्रु गृहस्थ है और शिष्य बालाकि ब्रह्मचारी है।

(७) यजुर्वेदकी कठ-उपनिषद्में कथा है कि अरुण ऋषिका पोता नचिकेता नामक ब्राह्मणकुमार ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये यमके पास गया। आचार्यको घरपर न देख नचिकेताने अन्न-जल स्वीकार नहीं किया। आचार्यकी स्त्रीको यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। उसने नचिकेताको अन्न-जल ग्रहण करनेके लिये बहुत आग्रह किया और कहा कि 'तुम्हारे ऐसा करनेपर हम गृहस्थियोंको दोष लगता है' परन्तु उसने उसकी बातोंपर ध्यान नहीं दिया और तीन दिन तथा तीन रात्रि बिना खाये-पिये अनशन-व्रत किये पड़ा रहा। जब यम आया तो उसने नचिकेताको आत्मज्ञान प्रदान किया। इस कथामें भी आचार्य यम गृहस्थ है और शिष्य ब्रह्मचर्याश्रमी है।

(८) वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

यह मनुस्मृतिके १२ वें अध्यायका १२० वाँ श्लोक है। इसमें मनु महाराजने कहा है कि 'वेद-शास्त्रके रहस्योंको जाननेवाला चाहे किसी भी आश्रममें क्यों न

रहता हो वह अपनी आयुमें ही मोक्षका अधिकारी हो जाता है।

'कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः' (मनु० १ । ९७) कर्म करनेवालोंमें ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं, इस श्लोकमें गृहस्थियोंमें ब्रह्मवेत्ता गृहस्थको ऊँचा आसन दिया गया है।

(९) न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥

यह याज्ञवल्क्यसंहिताके अध्यात्मप्रकरणका १०५ वाँ श्लोक है। इसमें महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि न्यायसे धन कमानेवाला, तत्त्वज्ञानमें निष्ठा रखनेवाला, अभ्यागतोंका सत्कार करनेवाला, श्राद्ध करनेवाला और सत्य बोलनेवाला जो गृहस्थ है वह भी मोक्ष पा जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि गृहस्थ भी तत्त्वज्ञानी हो सकता है और मोक्ष-शास्त्रके अध्ययनका अधिकारी हो सकता है।

(१०) मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको जब बारह वर्षकी आयुमें औदासीन्यने घेर लिया तो ब्रह्मर्षि वशिष्ठजीने योगवासिष्ठद्वारा उन्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। श्रीरामजी ब्रह्मचारी हैं और ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके बाद गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होते हैं, जिस सभामें यह उपदेश दिया गया है उसमें राजा दशरथ तथा अन्य ऋषि आदि बहुत लोग श्रोता थे। यह योगवासिष्ठकी कथा है।

(११) भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने सब उपनिषदोंका सार निकाल अर्जुनको गीताके रूपमें उपदेश किया है, गीता ब्रह्मविद्याकी मानी हुई शिक्षा है। यहाँ भी ब्रह्मविद्याके आचार्य वासुदेव श्रीकृष्ण गृहस्थाश्रमी हैं और शिष्य महात्मा अर्जुन भी गृहस्थाश्रमी ही है।

(१२) गीताके चौथे अध्यायमें कहा गया है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

इस ब्रह्मविद्याका मैंने ही सबसे पहले विवस्वान्को उपदेश किया था और उसके बाद विवस्वान्ने मनुको उपदेश किया और मनुने इक्ष्वाकुको उपदेश दिया। यहाँपर भगवान् विष्णु भी लक्ष्मीकान्त गृहस्थ ही हैं और यदि श्रीकृष्णजीके शरीरको माना जावे तो वे भी राधापति गृहस्थ ही हैं और विवस्वान् मनु और इक्ष्वाकु तो प्रसिद्ध गृहस्थ हुए हैं अतः यहाँ भी आचार्य और शिष्य दोनों गृहस्थ हैं।

(१३) गीताके छठे अध्यायमें कहा गया है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।

—योगभ्रष्ट व्यक्ति शुद्ध पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है या अध्यात्मविद्याके ज्ञानी लोगों—योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है। परन्तु संसारमें ऐसा जन्म ग्रहण करना महान् दुर्लभ है।

यदि गृहस्थी लोगोंमें कोई ऐसा तत्त्वज्ञानी ब्रह्मवेत्ता नहीं होगा तो बेचारे योगभ्रष्टोंका उद्धार कैसे होगा ? यही कारण है कि बृहदारण्यक उपनिषद्के अन्तिम भागमें जातकर्म-विद्याका व्याख्यान किया गया है और ब्रह्मवेत्ता सन्तान पैदा करनेके नियम वर्णन किये गये हैं तथा ऐसे माता, पिता और पुत्रोंकी स्तुति करके उपनिषद्को समाप्त किया गया है। उपनिषद्के अन्तमें सन्तानोत्पत्तिकी प्रशंसा करना भी गृहस्थाश्रमका महत्त्व प्रकाशित करता है और गृहस्थोंको उत्साहित करता है कि स्वयं ब्रह्मविद्याके जानकार बनो और अपनी सन्तानको ब्रह्मज्ञानी बननेका गर्भसे ही अवकाश दो जिससे सबका परम कल्याण सिद्ध हो।

(१४) कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाकी उपनिषद्में आचार्य ब्रह्मविद्या दे चुकनेके पश्चात् अपने स्नातक ब्रह्मचारियोंको अन्तिम उपदेश देता है कि 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'—गृहस्थाश्रमका त्याग मत करना, बल्कि सन्तान अवश्य पैदा करना।

(१५) अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद्के अन्तिम भागमें लिखा है—'नास्या ब्रह्मवित् कुले भवति'—अर्थात् इस ब्रह्मविद्याके जाननेवाले पुरुषके कुलमें अवश्य ही ब्रह्मवेत्ता पुत्र उत्पन्न होता है, यह केवल व्यर्थ बात या स्तुतिमात्र ही नहीं है अपितु इसमें सत्यता है। हाँ, उतनी ही सत्यता है जितनी इस विद्याकी सत्यता है।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे हमारा आशय केवल यह है कि प्राचीन कालसे गृहस्थी लोग ब्रह्मविद्याका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते आये हैं। अतः भविष्यमें भी गृहस्थोंको इस विद्याकी ओर दत्तचित्त होकर लगनेका शुभ अवसर देना चाहिये और यदि कोई ब्रह्मवेत्ता गृहस्थ हो तो उसकी मान-प्रतिष्ठा करनेमें संकीर्णता नहीं दिखानी

चाहिये और आवश्यकता हो तो ऐसे महाभागको आचार्योचित समादर देनेकी भी उदारता दिखानी चाहिये। यदि ऐसा किया जायगा तो बहुत-से योगभ्रष्ट पुण्यात्माओं-को ब्रह्मवेत्ता माता-पिताके मानसिक विचारोंको धारण करके मुक्ति लाभ करनेमें भारी सहायता मिलेगी और ऐसी सन्तानोंके उत्पन्न करनेसे गृहस्थोंका भी उद्धार होगा।

इसके साथ ही स्त्री-जातिके सम्बन्धमें भी इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि मदालसा तथा अन्य ब्रह्मविद्याकी जाननेवाली देवियोंकी जीवन कथाओंको भुलाया नहीं जा सकता, जिन्होंने आत्मचिन्तन करते हुए ज्ञानी सन्तानोंको जन्म दिया था तथा लोरी देते-देते अपनी सन्तानको परमार्थ-तत्त्वका उपदेश कर दिया था। मदालसाके वाक्य ये थे—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
(मदालसा वाचमुवाच पुत्रम्)॥

'बेटा! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है अर्थात् संसारकी मायासे सर्वथा रहित है, प्यारे! तू संसारको एक स्वप्नका दृश्य ही समझ और मोह-निद्राको छोड़ दे।'

यदि हम गर्भविज्ञान या उत्पत्ति-शास्त्रके विशेष नियमोंपर दृष्टि डालें तो ऋषियों, महावीरों और धर्मात्मा तथा दुरात्माओंके बननेके अन्य कारणोंमें माता-पिताके मानसिक विचारोंको विशेष प्रभावशाली मानना होगा। विशेषकर माताके। यही कारण है कि आयुर्वेदाचार्य महर्षि सुश्रुतने इस विषयमें बड़े ही महत्त्वके उपदेश किये हैं और सन्तान पैदा करनेकी वैदिक विधिका सविस्तर वर्णन किया है। सुश्रुतने कहा है—

'यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्'

'स्त्री जैसे भी विचार करती अथवा रहन-सहन रखती है उसी प्रकारकी सन्तानको पैदा करती है।' क्या आप कपिल ऋषिकी जन्म-कथाको भूल चुके हैं? यह महात्मा जन्म-सिद्ध कहाते हैं। कारण यह है कि इनकी माता देवहूति देवी शुद्ध सात्त्विक प्रकृतिकी थी। पहले तो वह अपने पिता मनुके घरमें शास्त्राध्ययन कर चुकी थीं फिर बादमें पतिके घर आकर तो उनके और भी शुद्ध जीवन बितानेका अवसर हाथ आ गया था क्योंकि उनके पति अपने समयमें ऋषि कहलाते थे।

अतः जहाँ पुरुषोंको योग्य होनेपर ब्रह्मविद्याका अधिकार है वहाँ स्त्रियोंको भी है। आज जो आचार-हीनताका व्यापक रोग दिखायी देता है इसका मूल कारण भी गृहस्थाश्रमकी खराबी है। यदि गृहस्थाश्रम ठीक मर्यादामें आ जावे तो योग्य सन्तानोंके उत्पन्न होनेसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सबके दोषोंका परिमार्जन हो जावे और शुद्ध गृहस्थोंके शुद्ध अन्नको खा-कर सभी आश्रमी शुद्धाचरणसे समन्वित होकर अपना जीवन सफल करें। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि गृहस्थी लोग सदाचारपरायण होकर ब्रह्मज्ञानपर ध्यान रक्खें।

चाह

मनमें है बसी बस चाह यही
प्रिय नाम तुम्हारा उचारा करूँ।
बिठलाके तुम्हें हिय-मंदिरमें
मनमोहनि मूर्ति निहारा करूँ॥
भरके दृग-पात्रमें प्रेमका जल
पदपङ्कज नाथ! पखारा करूँ।
बन प्रेमपुजारी तुम्हारा प्रभो!
नित आरती भव्य उतारा करूँ॥

—हरिप्रसाद शर्मा 'अविकसित'

श्रीयमकरामायण

(लेखक—श्रीअमृतलालजी माथुर)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

अवधकाण्ड

भरत-मातुहि लोग कहा करै
कुवरि को सु कुजोग कहा करै ?
बहु प्रकारन-कारन पाय के
प्रभु कृपा वन-पावन पै भई ॥३३॥

वचन-पालक बालक बापके
सुन परे न परे जग आपके।
विपिन-हीं पनही-विनही चले
भवनकों वनकों सम मानिके ॥३४॥

'गवनिए वन' ना मुखसों कही
नृप रहे करते दुख सोक ही।
जदपि ना उनकी मनसा रही
प्रभु गह्यो पितुको पन-सार ही ॥३५॥

प्रभु भए मिलिवे निज अंब ते
उन भरे दृग-अंबुज अंबु[1] ते।
अति भई हित-भाय सु दीन है
धरम-धारन-आयसु दीन है ॥३६॥

जगत-जीवनके वन-जानकी
सुनि उठी सँग जावन-जानकी।
प्रभु कहे सु कलेसहु कानना
उन किये वह लेसहु कान ना ॥३७॥

मति विलच्छन लच्छन[2]लालकी
अस सुलच्छन लच्छन[3]में नहीं।
सुख-द भाइ न भा इन-सा अहो
घर तजे रत जे प्रभु-संग भे ॥३८॥

सु घर पै घर पैर नहीं चले
सु वन-हीं विनहीं पनहीं चले।
सु छवि लोक विलोक विलोकके
सजल-लोचन, सोच न सो सहैं ॥३९॥

दृग भरे अँसुवान सुवानके
विहग आरतें आरत-नादसों।
तकि रहे सब वाहन दीन-से
दृग वहे जल-वाह नदीन-से ॥४०॥

मृदुल गात मनो वन-जात[5] हैं
जनक वैननते वन जात हैं।
अस सुहावन तो मन-जात[6] ना
इन लखे अनतो[7] मन जात ना ॥४१॥

हरिहि हेरत होति चितै रई[8]
चित जराति विरंचि चितैरई[9]।
दरस जा सम और रसाल ना
वन गए किन के उर साल[10] ना ॥४२॥

वहत हैं जब गामन-पासते
गहत हैं न किते मन पास ते ?
जिन लिए लखि एकहु वेर हैं
जनमके वह दास हुवे रहैं ॥४३॥

लखत जे प्रभुकों नर, नार हैं
तिननिके मन तो घर ना रहैं।
सकल भावनि भान विसारहीं
छकि रहैं लखिके छवि-सार हीं ॥४४॥

सर हुतो जित पंक-मलान-सो
हरि लखे सु छयो कमलान सो।
जिहिं बबूलनकी महिं[11] माल[12] ही
सु वन नंदनकी महिमा लही ॥४५॥

---

१ जल। २ लक्ष्मणजी। ३ लाखोंमें। ४ रोते हैं। ५ कमल। ६ कामदेव। ७ अन्यत्र। ८ रति (प्रीति)। ९ चित्रकारी। १० खटकना। ११ पृथ्वीपर। १२ माला (पंक्ति)।

अवध भो विरहा अनखावनो
तजि दयो परजा अन खावनो।

हरि विना नगरी सगरी बसी
पर रही सु हतास गरीब-सी ॥४६॥

तरु, लता-फल, फूल हरे नहीं
सुख सरी सरजू लहरे नहीं।

सरन में विकसैं न सरोज हैं
सकल सेवक सैनं[13] सरोजं[14] है ॥४७॥

हरि बिना नृप भे रस-हीन ही
हह ! परी वह पीर सही नहीं।

नहिं भयो भवमें तिनं[15]-तोल है
तजि दयो तनकों तिनं[16] तोल है ॥४८॥

महिप-मीच रु राम-विवासनै
सुनत ही तजिके भव-वासनैं[17]।

सब समाज लिये वन भागहै[18]
भरत सो भवमें धन भाग है ॥४९॥

मुकुट, कुंडल, मालन सो कहा ?
महिप-ता, धन, माल न सोक-हा।

प्रभु वहै धर नीरज-पैर हैं
सिर वहै धरनी-रज पै रहैं ॥५०॥

वन विलोकि प्रभू मन-भावते
अवध-वासिहु यों मन भावते।

प्रभु निहार निहार निहाल ए
हह ! हमें हरि ना हरिना[19] किए ॥५१॥

दुचित भाव सबै हरिने हते
भरत भे सुखिया हरि-नेह ते।

जब दई प्रभु ने पद-पीठं[20] है
तब दई सब आपद पीठ है ॥५२॥

भरत गे बसि नंदि-गराम हीं
परम-राग रँगे रँग-राम हीं।

तप तपै नहिं गात-कं[21] सोच[22] है
दरसको रस चातक-सो चहै ॥५३॥

कमल-से अति कोमल गात हैं
हिम सहैं जल, घाम लगात हैं।

बहत नैननसों रसु-धार है
पियत राम-सनेह सुधा रहै ॥५४॥

(इत्यवधकाण्डम्)

अरण्यकाण्ड

अहह ! आप बहे जिस राहते
मगन संतत संभु सराहते।

धन सु थान महातप-धारनो
धन धरा हरि-होत-पधारनो ॥५५॥

पद प्रभाव प्रभा वनकी वढ़ी
सफल जीवन जीवनके भए।

सकल तापस-ताप सबै गई
रवि लखे विलखे कज क्यों रहैं ? ॥५६॥

छकि रहैं लखि सो छवि-सार ही
मृग, विहंगम अंग विसारही।

नहिं निहारत हारत नेक हैं
दरसकी रसकी धन टेक हैं ॥५७॥

सुमरती, मरती प्रभुपै किती
असुर-ती सुर-ती सु-रती चहैं।

यक रती न रती पर-ती न पै
सुधरती परती परतीत है ॥५८॥

(क्रमशः)

१३ सयन (खंजन)। १४ रुदनयुक्त। १५ उनके। १६ तृण। १७ वासनाको। १८ भागे। १९ हरिण (मृग)। २० पादुका। २१ शरीरका। २२ फिक्र।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

[क्रमशः]

[४]

आपका पत्र मिला। प्रश्नोंका उत्तर पढ़कर आपको प्रसन्नता एवं सन्तोषकी प्राप्ति हुई सो यह आपकी दयाकी बात है।

आपने मिलनेकी इच्छा लिखी सो आपके प्रेमकी बात है।

मेरे लिये श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, महान् पुरुष तथा और भी मेरी बड़ाईके शब्द लिखे सो नहीं लिखने चाहिये।

बिम्ब और प्रतिबिम्बके विषयमें आपने अपना जो अनुभव जनाया सो युक्तियुक्त है।

गुरुकृपासे आपको अनुभव हुआ लिखा सो अच्छी बात है, किन्तु यह विचारणीय विषय है। जिसको अनुभव हो जाता है वह इसप्रकारसे न तो किसीसे कहता है और न वह स्वयं यह समझता ही है कि मुझको अनुभव हो गया। वहाँ संशय, भ्रम और कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। श्रुतिमें कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

आपके पत्रसे आपका जिज्ञासुपन सिद्ध होता है इसलिये भी आपको अपने विषयमें विचार करना चाहिये। अपने आपको ज्ञानी मान लेना भी भूल है, क्योंकि ज्ञान होनेके बाद उसमें माननेवाला कोई नहीं रहता। अतएव आपका जिज्ञासुभाव ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

प्रश्नोंका उत्तर

प्र०—अज्ञानसे उत्पन्न हुई स्वार्थ-बुद्धिका नाश होनेके लिये क्या उपाय है?

उ०—निष्कामभावसे किये जानेवाले भगवन्नामके जप और भगवत्-स्वरूपके ध्यानरूपी उपासनासे मल-विक्षेपका नाश होकर भगवान् एवं भगवान्के भक्तोंकी परम दयासे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और उस तत्त्वज्ञानसे अविद्यासहित राग-द्वेषादि सम्पूर्ण क्लेशोंका एवं सम्पूर्ण कर्मोंमें स्वार्थ-बुद्धिका अत्यन्त अभाव हो जाता है और परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है। योगदर्शनके सूत्र हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम्।
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

प्र०—क्या जीवात्मा और प्रकृति ये दोनों परमेश्वरके सकाशसे बने हैं?

उ०—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जीवात्मा और प्रकृति दोनों अनादि माने गये हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
(गीता १३। १९)

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही अनादि जानो।

ये ईश्वरके सकाशसे भी बने नहीं, इसीलिये ईश्वर इनसे बिल्कुल निरपेक्ष है। ईश्वर फल भोगनेके लिये गुण और कर्मोंके अनुसार अच्छी और बुरी योनियोंके साथ जीवात्माका सम्बन्ध जोड़ देता है। किन्तु निरपेक्ष होने एवं कर्तापनके दोषसे रहित होनेके कारण ईश्वर करता हुआ भी अकर्ता समझा गया है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(गीता ४ । १३)

गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं परन्तु उनके कर्ता मुझ अविनाशी परमेश्वरको तुम अकर्ता ही जानो ।

प्र०—जीवात्माके साथ अनादिकालसे अज्ञानका जो यह सम्बन्ध है इसको विज्ञानानन्दघन परमात्मा जानते हैं, ऐसा मेरा अनुभव है । अद्वैत-सिद्धान्त-से क्या यह बात ठीक है ?

उ०—नहीं । अद्वैत-सिद्धान्तसे विज्ञानानन्दघन परमात्मा-की दृष्टिमें तो अज्ञान है ही नहीं । जिनको अज्ञानका सम्बन्ध भासता है उन्हींकी दृष्टिमें अज्ञान है, और उन्हींके लिये वह अनादि-सान्त है । अद्वैत-सिद्धान्तसे तो जीवात्माके साथ अज्ञानका सम्बन्ध वास्तवमें है ही नहीं । अध्यारोप माना गया है ।

प्र०—जीवात्मा और परमात्मा जब विजातीय वस्तु हैं तो फिर एक कैसे हो जाते हैं ?

उ०—जीवात्मा, परमात्मा विजातीय नहीं हैं । इसीलिये जीवात्मा, परमात्माको प्राप्त होनेके बाद यानी परमात्मामें विलीन होनेके बाद पुनः वापस नहीं आता । जीवात्मामें जबतक अज्ञान है तभी-तक वह परमात्मामें विलीन नहीं हो सकता । किन्तु ईश्वरकी भक्ति करनेसे आत्मा पवित्र होकर ईश्वरकी दयासे जब उसे परमात्मतत्त्वका साक्षात् ज्ञान हो जाता है तब उस ज्ञानके प्रतापसे अज्ञानका नाश होकर वह पवित्रात्मा बन जाता है और परमेश्वरमें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है यानी परमात्मामें मिल जाता है । फिर इस जीवात्माकी परमात्मासे अलग सत्ता ही नहीं रहती । अज्ञानके कारण अनादिकालसे जीवात्मा उस परमात्मासे पृथक्-सा हो रहा है । इसीलिये इसकी जीव संज्ञा है । कारणरूप अविद्याके नाश होनेपर इसकी जीव-संज्ञाका भी नाश हो जाता है इसलिये अविद्या यानी मायाको अनादि-सान्त बतलाया गया है। जैसे सिन्दूरसे निकाला हुआ पारा पारेमें मिलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है फिर वह सिन्दूर नहीं बनता, वैसे ही मायासे छूटकर पवित्र हुआ जीव, शुद्धविज्ञाना-नन्दघन परमात्माको प्राप्त होकर पुनः जीव-भावको नहीं प्राप्त होता ।

[५]

पत्र दो आपके मिले जवाब देनेमें मेरे प्रायः ही देरी हो जाया करती है ।........

प्रश्नोंका उत्तर

प्र०—काम-क्रोधके कारण साधन प्रायः बहुत कम होता है ।

उ०—विश्वासपूर्वक कटिबद्ध होकर साधन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । फिर काम-क्रोधका आप ही नाश हो सकता है ।

प्र०—घरू संकल्प अधिक बाधक हो रहे हैं ?

उ०—अभ्यासके द्वारा उन संकल्पोंके त्याग करनेकी कोशिश करनी चाहिये ।

प्र०—धर्म-प्रचार, समाज-सुधार, धनोपार्जन—इन तीन कारणोंसे विद्याका अभ्यास करनेकी रुचि प्रबल हो रही है ।

उ०—यह उचित ही है । विद्याके योग्य न बनूँ ऐसी निषेधात्मक प्रार्थना नहीं करनी चाहिये । तीनों हेतुओंसे विद्या सीखनेकी वृत्ति नीतिकी दृष्टिसे अनुचित नहीं है ।

प्र०—प्रभुसे क्या माँगना चाहिये ?

उ०—प्रभुका प्रेमसहित अनन्यचिन्तन तो अवश्य ही माँगना चाहिये ।

प्र०—साधनके विषयमें बराबर पूछ-ताछ करनी चाहिये !

उ०—समय कम मिलनेके कारण, एवं स्वभावकी ढिलाईसे पत्र देनेमें विलम्ब हो जाता है, नहीं तो पूछनेमें तो कोई संकोच नहीं है ।

प्र०—साधनके लिये कड़ाई करनी चाहिये ।

उ०—स्वभावकी नरमी एवं अनधिकार समझकर आप-पर कड़ाई नहीं की जा सकती अतएव आपको ही अपने ऊपर कड़ाई करनी चाहिये ।

प्र०—जीवकी इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह प्रमाद छोड़-कर बिना किसी प्रकारकी उत्तेजना पाये ही अपने लक्ष्य-पथपर अग्रसर होता जाय ।

उ०—इसके लिये सत्य-कबीरकी साखीमें वर्णित कबीर-दासजीकी चेतावनीकी तरफ खयाल करनेसे बहुत मदद मिल सकती है ।

प्र०—अध्यात्म-जगत्में इसीलिये एक मार्ग-प्रदर्शकके संकेत और तत्त्वावधानकी आवश्यकता और उपयोगिता एक विशेष स्थान रखती है ।

उ०—मार्गदर्शक बहुत पुरुष हो चुके हैं, और हैं भी । जिनमें जिनकी श्रद्धा है उनके लिये वही मार्ग-प्रदर्शक बन सकता है । मार्गदर्शकोंकी कमी नहीं है किन्तु श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता है ।

प्र०—भगवान्की विस्मृति और भोगोंकी अनवरत उपासनाने इस अभिमानी ब्राह्मणको बहुत दूर ला गिराया है ?

उ०—इसके लिये विचारपूर्वक या हठसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान या उनके नामका जप करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये । हठसे ही कोशिश करनी चाहिये, ऐसा करनेसे सब कुछ हो सकता है ।

प्र०—शिश्नोदरपरायण प्रमादीका उद्धार अपने बलपर होना परम कठिन है !

उ०—इसके लिये ईश्वरकी शरण लेनी चाहिये । ईश्वरके नामका जप, स्वरूपका ध्यान और उनकी आज्ञाका पालन करना ही ईश्वरकी शरण है ।

प्र०—विषयोंके संग और सेवनसे अन्तःकरण मलिन होता जा रहा है ?

उ०—यदि यह बात आपके समझमें आ गयी हो तो विचारपूर्वक विषयसंग और सेवनका त्याग करना चाहिये । विचारसे त्याग न हो तो हठसे त्याग करना भी उत्तम है ।

प्र०—सत्संगकी अभिरुचि पूर्वापेक्षा न्यून प्रतीत हो रही है !

उ०—इसके लिये श्रद्धालु पुरुषोंका संग एवं महापुरुषोंके प्रेम, रहस्य, गुण और प्रभावकी बातोंका श्रवण और विवेचन करना उत्तम है ।

प्र०—देहाध्यास अधिक बढ़ा हुआ है ।

उ०—इसके लिये दो ही उत्तम उपाय हैं ।

(१) अभिमानको छोड़कर निष्काम प्रेमभावसे ईश्वरकी अनन्य शरण होना ।

(२) गीता अ० १४ । १९ के अनुसार द्रष्टा (साक्षी) होकर इस शरीर और शरीरके कर्मको आत्मासे पृथक् देखनेका अभ्यास करना ।

प्र०—मान-बड़ाईके प्रदीप्त दीपकमें मन पतंग होकर उत्साहसे जलना चाहता है ऐसी परिस्थितिमें

आपको और सुहृद् भगवान्‌को छोड़कर किसके सामने पुकार करूँ ?

उ०—मान-बड़ाईको प्रदीप्त दीपक समझनेमें ही अभी कमी है अतएव इसको प्रदीप्त दीपकके सदृश अच्छी तरह समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। समझनेपर मन जलकर मरना नहीं चाहेगा। इसको समझनेके लिये एकान्तमें करुणभावसे रोकर ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये।

प्र०—महापुरुषोंमें आरम्भमें जो श्रद्धा दीखती थी वह इस समय उस रूपमें नहीं दीखती, इसका कारण भी शायद साधनकी कमी और विषय-सेवनकी अधिकता ही होगी।

उ०—सबसे बढ़कर महापुरुष तो परमेश्वर ही हैं। उनमें निष्कामभावसे प्राप्त हुई सच्ची श्रद्धाका क्षय नहीं होना चाहिये। यदि कमी नजर आती हो तो उसके मूलमें कोई कामनाका होना सम्भव है। भगवान्‌के भक्तोंमें श्रद्धाकी कमी होनेमें कारण भगवान्‌के भक्तोंमें गुणोंकी तारतम्यताका देखना एवं विषयासक्त और नास्तिक पुरुषोंका संग तथा पूर्वकृत पापकी वासनाएँ इत्यादि अनेक हेतु हो सकते हैं।

प्र०—दूसरोंके दोष पहाड़ बनकर मेरी वाणीके आलोच्य विषय हो रहे हैं, निन्दामें रस मालूम देता है।

उ०—दूसरोंके दोष और अपने गुणोंकी आलोचनासे जो आनन्द होता है उसको मृत्युके समान समझकर उसका विषके तुल्य त्याग करना चाहिये, नहीं तो भारी पतन होना सम्भव है।

तपस्विनी तेरसा

(लेखक—श्रीभगवानदासजी हालना)

स्पेन-देशमें तेरसा नामकी एक बड़ी धर्मशीला नारी हो गयी है। वह बड़ी बुद्धिमती, प्रतिभाशालिनी, शक्तिमती, परिश्रमशीला और धर्मभावापन्न थी। लोगोंपर उसका बड़ा प्रभाव पड़ता था। उसका जन्म स्पेनके अवीला-नगरमें सन् १५१५ की २८ वीं मार्चको हुआ था। उसके पिताका नाम सेपेडा था जिसका एक प्रदेशके राजवंशमें जन्म हुआ था। उसकी माताका नाम बियाट्रीज था। वह बड़ी सुन्दरी और धर्मशीला नारी थी। तेरसाके पितृकुल और मातृकुलमें अनेक वीर हो गये हैं। तेरसाके पिता युद्ध करना एक बड़े गौरवकी बात समझते थे। यहाँतक कि तेरसाके स्वभावमें भी युद्ध करनेका भाव छिपा हुआ था। तेरसाके सात भाई और दो बहिनें थीं। उसके पिता बड़े तेजस्वी और चरित्रवान् थे और उसकी माता बड़ी धर्मशीला और अच्छे स्वभावकी थीं। तेरसा माताके समान सुन्दरी थी और सदा हँसमुख रहती थी। उसका प्रसन्न वदन देखकर लोग आनन्दित हो जाते थे। उसे बचपनमें जेबखर्चके लिये जो पैसे मिलते, उन्हें वह दरिद्रोंकी सहायतामें लगाती। दूसरोंकी कभी निन्दा नहीं करती थी, किसीसे मनमें ईर्ष्या नहीं रखती थी और माता-पिताकी हर तरह आज्ञा-पालन करती थी। तेरसा और उसके एक भाईने छोटी अवस्थामें ही एक बड़ी कीर्तिका काम किया। ये भाई-बहिन निरन्तर साधुओंके जीवन-

चरित्र पढ़ा करते थे। इन साधुओंमेंसे कितनोंहीने ईश्वरके लिये अपने जीवन अर्पित कर दिये थे। उन भाई-बहिनोंने भी ईश्वरके कार्यमें जीवन देना उचित समझा। इसके लिये उन्होंने निश्चय किया कि संन्यासी और संन्यासिनी होकर मूर-देशमें जायँगे। मूर-देशमें मुसलमान रहते थे। वहाँ ईसाई लोग अपने धर्मका प्रचार करते थे। भाई-बहिनोंने समझा धर्मका प्रचार करते हुए मुसलमान हमें मार डालेंगे तब ईश्वरके प्रति हमारा जीवन अर्पित हो जायगा। मनमें यह सोचकर किसीसे बिना पूछे-ताछे वे घरसे निकल पड़े। कुछ दूर जाकर स्पेनके एक विजय-स्तम्भके पास वे दोनों बैठ गये। वहाँ लोग कहते थे 'यहाँ तो सिंहका डर है। यहाँ रात्रिमें रहना भयावह है।' ये भाई-बहिन गुप्तरूपसे मूर-देशमें पहुँचना चाहते थे और यहाँ यह विपद् आ खड़ी हुई! तेरसाके चाचा घोड़ेपर सवार होकर उनकी तलाश करते उनके निकट आ गये। उन्होंने भाई-बहिनोंकी पोशाकसे समझ लिया कि यहाँ तो कुछ नया ही गुल खिला है। ये लोग किसी विशेष विचारसे ही यात्राके लिये निकले हैं। तेरसाको लाचार होकर अपने चाचासे सब बातें ठीक-ठीक कह देनी पड़ीं। उनके चाचा बड़े जबरदस्त आदमी थे। वे जबरन् दोनोंको घर वापस ले गये। दोनों भाई-बहिनोंके प्राण नहीं गये और साधु होनेपर भी वे साधु नहीं हुए।

तेरसाकी अवस्था जब बारह वर्षकी थी तभी उसकी स्नेहमयी माताका शरीरान्त हो गया। उस समय बड़ी बहिनपर घरका सारा भार आ पड़ा। जब माता थी तो वह तेरसाकी हर तरह रक्षा करती थी। माताकी तरह पिता रक्षा नहीं कर सकते थे। तेरसाकी बहिन बड़ी विलासिनी, धर्महीना और रंगपर चढ़ी हुई रमणी थी। तेरसा भी उसकी सङ्गतिसे दिन-दिन खराब होने लगी। उसमें पहले जो शुद्ध, सुन्दर भाव था वह जाता रहा। वह अब बड़े-बड़े सुन्दर कपड़े पहनने लगी, तेल-फुलेल लगाने और खूब ठाट-बाटसे रहने लगी। वह एक युवकके फेरमें पड़ गयी और शादी होनेकी बातचीत होने लगी। परन्तु भगवान्‌ने उसकी सहायता की। तेरसाके मनमें अचानक ऐसा आया कि यह ठीक नहीं है। वह धर्मगुरुके पास गयी। उसने उसे अपना सब हाल सुनाया। उसने कहा ऐसा करना बड़ा पाप है। अब तेरसाने अपने मनको उस युवककी तरफसे हटा लिया और विवेकसे काम लिया। उसने संन्यासिनी-की तरह जीवन बिताना तय किया। घरमें और कोई स्त्री नहीं थी जो तेरसाकी देख-भाल कर सके। पिताने उसे घरमें और रखना पसन्द नहीं किया। वह संन्यासिनियोंके मठमें भरती कर दी गयी। इसमें कितनी ही लड़कियाँ शिक्षा पाती थीं।

तेरसा डेढ़ बरसतक मठमें रही। वहाँ वह बहुत बीमार हो गयी। तब पिता उसे घरपर ले आये। घरपर उसकी सेवा-शुश्रूषा कौन करे! उसने अपने बहिनके घर जाना निश्चय किया। जहाँ बहिन रहती थी वहाँका जल-वायु बहुत अच्छा था। वहाँ जाते समय रास्तेकी सुन्दर वायुसे उसका शरीर स्वस्थ होने लगा। तेरसाको कवित्व और प्रकृतिके सौन्दर्यसे बड़ा प्रेम था। रास्तेमें पहाड़, नदी, लता-पताओंके आनन्दसे तृप्त होने लगी। रास्तेमें उसके एक चाचा रहते थे। वे एक बहुत बड़े जमींदार और सम्पन्न पुरुष थे। उनके अनेक मकान, घोड़ा-गाड़ी और दास-दासी थे। इसप्रकार ऊपर-से बड़े धनी होनेपर भी भीतरसे उनका हृदय संन्यासी था। उन्होंने अपनी भतीजीसे कहा कि 'तुम कुछ दिन यहाँ रहकर तब जाना और जितने दिन यहाँ रहो तुम्हें अपने अत्यन्त मीठे स्वरसे हमें ग्रन्थ

पढ़कर सुनाना होगा ।' इस ग्रन्थ-पाठके सम्बन्धमें स्वयं तेरसाने यह लिखा है कि—

'मैंने अपने चाचाको उच्चस्वरसे ग्रन्थ पढ़कर सुनाये। मैं उनके पास थोड़े दिन रही। पर मैं क्या कहूँ उन ग्रन्थोंमें एक इन्द्रजालकी शक्ति छिपी हुई थी। वह शक्ति न जाने कैसे मेरे छिपे हुए मर्मके भीतर घुस गयी, उससे नेत्रोंका अन्धकार हट गया; जीवनकी चञ्चलता दूर हो गयी और धीरे-धीरे बाल्यावस्थाके ऊचे भाव हृदयमें पुनः जाग्रत् होने लगे।'

तेरसा चाचासे विदा होकर बहिनके घर पहुँची। उस समय उसके मन और शरीर दोनों खूब सुखी थे। वह अपने भविष्यके सम्बन्धमें चिन्ता करने लगी। वह सोचने लगी कि मनुष्यको संसारके सुखमें रहनेसे वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। ईश्वरको प्राप्त किये बिना पाप-ताप दूर नहीं होते और सच्ची शान्ति नहीं मिलती। ईश्वरके प्राप्त करनेके लिये घर त्यागकर संन्यासिनी होना जरूरी है। तेरसा तीन महीनेतक इसी चिन्तामें रही कि क्या करूँ, क्या न करूँ। अन्तमें उसने संन्यासिनी होनेका दृढ़ संकल्प कर लिया।

तेरसाने अपने पितासे अपना संकल्प कह सुनाया। इस बातसे उसके हृदयमें जितनी चोट लगी उसे उसकी अन्तरात्मा ही जानती थी। वह सोचने लगी कि यह मातृहीन तो हो ही चुकी है, मैंने इसे इतना बड़ा किया। अब यदि संन्यासिनी होगी तो इसे बड़े दुःख सहने पड़ेंगे! संन्यासीका धर्म बड़ा कठोर है। यदि यह धर्मभ्रष्ट हो गयी तो ऐसी रसातलको जायगी कि ठिकाना ही न लगेगा। पिताने उसे रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, कहा कि जबतक मैं जीता हूँ, तू संन्यासिनी न हो पीछे खुशी हो तो हो जाना। तेरसा जानती थी कि पिताकी आज्ञा न माननेसे उन्हें बड़ी चोट लगेगी पर वह ईश्वरके समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध हो चुकी थी, वह उस प्रतिज्ञासे हटना बड़ा भारी पाप समझती थी। पिताके कष्टका स्मरणकर उसका हृदय चूर-चूर हो गया पर अधर्म और नरकका भय कर वह अपने संकल्पपर दृढ़ रही और संन्यासिनी होनेकी तैयारी करने लगी।

सन् १५३३ की दूसरी नवम्बरको तेरसाके हृदयमें दैवी प्रकाश और पवित्रताका उदय हुआ जिससे वह आनन्दके मारे खिल उठी। उस समय उसकी अवस्था केवल १८ वर्षकी थी। पितृस्नेहके बन्धनको तोड़कर और संसारके सब सुखोंको लात मारकर वह संन्यासिनी होनेके लिये घरसे चल पड़ी। वहाँ एक मील दूर एविला-नगरमें संन्यासिनियोंका एक आश्रम था उसमें वह भरती हुई। उसे संन्यासकी दीक्षा देनेके लिये एक दिन नियत किया गया। उस दिन वहाँ उसके पिता भी मौजूद थे। एक दिन जो सुन्दर और सुकुमारी तेरसा अनेक वस्त्राभूषणोंसे शोभित होकर अनेक लोगोंको मोहित करती थी आज उसके सुन्दर बाल कटवा दिये गये। इस समय वह कोई आभूषण नहीं पहने थी केवल संन्यासिनीका वेश धारण किये थी। ऊपरके सब आडम्बरोंसे हीन होनेपर भी पिताको उस सौम्य बालिकाके हृदय-मन्दिरमें एक दिव्य ज्योतिका प्रकाश देखकर आश्चर्य हुआ और यह मालूम होने लगा कि उसके दुःख दूर हो गये हैं। देखते-देखते तेरसाकी संन्यास-दीक्षा पूर्ण हो गयी और पिता उदास चेहरा लिये हुए घर लौट आये।

तेरसाने संन्यास लेनेपर सालभरतक आश्रमका कठोर व्रत पालन किया था। उसके मनमें दृढ़ता थी पर वह ज्यादा शारीरिक कष्ट न सह सकी। इसलिये

उसका स्वास्थ्य खराब हो गया। वह कभी-कभी मूर्छित भी हो जाया करती थी।

सन् १५३५ में तेरसा पिताके घरपर इलाज कराने आयी। पर इलाजसे रोग अच्छा नहीं हुआ। सन् १५३७ में वह फिर आश्रममें चली गयी। तीन वर्षतक लकवेसे पीड़ित रही किन्तु शय्यापर ही वह धर्म-ग्रन्थोंका पाठ करती रही और हृदयसे ईश्वरकी प्रार्थना करती रही। इस रोगावस्थामें ईश्वरपर उसका प्रेम और विश्वास और भी बढ़ गया।

अब तेरसाके ज्ञानचक्षु खुल गये। वह ईश्वरमें अपनी आत्माको स्थापन करनेका यत्न करने लगी। उसे कई साधुओंके दर्शन हुए। इन साधुओंके निर्मल चरित्र, परमात्मामें दृढ़ विश्वास और प्रेम देखकर धर्म-जीवनका गूढ़ रहस्य उसकी समझमें आ गया। साधुओंके ज्वलन्त उपदेशसे उसके हृदयमें धर्मभाव उद्दीप्त हो गया। इस सम्बन्धमें उसने लिखा है कि—

'इन दो साधुओंमेंसे एक साधुके प्रभावसे मेरे हृदयमें एक आश्चर्यमयी आध्यात्मिक शक्ति प्रवेश कर गयी। मनमें प्रतीत होने लगा कि संसारमें इससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है पर मैं ऐसा नहीं कर सकती थी।'

अब वह कृच्छ्र साधन करने लगी। घोड़ोंके काममें आने लायक मामूली कम्बलोंके कपड़े बनाकर पहनती थी। शय्यापर काँटे बिछाकर सोती थी, उसके शरीरमें घाव हो गये थे और खूनसे रँग गयी थी। थोड़ा बहुत खाकर निर्वाह करती थी। शराब पीना तो क्या उसे छूना भी वह पाप समझती थी।

तेरसाने अनेक कष्ट सहनकर कठोर व्रत और तप किया जिससे उसे पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ और जिससे सच्चे मनसे वह ईश्वरके ध्यानमें लगी। उस समय यूरोपमें धर्मकी दशा बिगड़ी हुई थी। धर्मोपदेशकों और संन्यासियोंके मठ तो थे पर मठवालोंमें स्वयं इतनी कमियाँ आ गयीं कि वे स्वयं ही ठीक रास्तेपर नहीं चलते थे तो औरोंको क्या सुधारते। मठों और आश्रमोंकी यह दुर्दशा देखकर तेरसाकी तबीयत ऐसे नये आश्रम स्थापित करनेकी हुई जिसमें निन्दित रीतियोंको स्थान न दिया जाय। उस समय सन् १५२० में प्रसिद्ध धर्मसुधारक महानुभाव मार्टिन लूथर धर्मका प्रचार कर रहे थे। उससे भी यूरोपमें धर्मान्दोलनकी लहरें उठ रही थीं। इधर संन्यासिनी तेरसाका लक्ष्य भी अनेक बुरी बातोंको दूर करना था, इससे इनके भी कितने ही शत्रु हो गये पर ये दृढ़ता और निर्भीकतासे अपने कामपर डटी रहीं।

तेरसाने अपने उच्च आदर्शके अनुसार एक नया आश्रम स्थापन किया। इसमें चार संन्यासिनियाँ भरती होकर नये भावसे कार्य करने लगीं। उनका चित्त सत्य और धर्मके लिये व्याकुल हो उठा। लोगोंके क्रोधकी परवा न कर वे ईश्वरकी प्राप्तिके कार्यमें तेरसाकी संगिनी बन गयीं। यहाँ संक्षेपमें उसके आश्रमके नियमोंका कुछ परिचय दिया जाता है—

(१) जो आश्रममें वास करेंगी उनके पास निजकी सम्पत्ति न रह जायगी। वह सब सम्पत्ति आश्रमको मिल जायगी। आश्रममें रहनेवाली नारियाँ मांस नहीं खाने पावेंगी। वे बहुत कम दामके मोटे कपड़ेके बने वस्त्र पहिनेंगी। उनके सिरके बाल कटवाकर छोटे-छोटे कर दिये जायँगे।

(२) आश्रमनिवासिनियोंको प्रातःकाल ६ बजे उठना होगा। ६ से ८ तक ईश्वर-प्रार्थना। नियत समयपर घण्टा बजेगा, उस समय सब भोजन करें। भोजनके बाद एक घण्टा विश्राम करें।

२ बजेसे सब धर्म-ग्रन्थ पाठ करें । सन्ध्याके ६ बजे अन्तिम प्रार्थना ।

(३) आश्रमका सिद्धान्त यह है कि यदि कोई व्यक्ति काम न करे तो उसे भोजन भी करना उचित नहीं है ।

(४) धनके प्रति आश्रमवासिनियोंकी जरा भी आसक्ति नहीं होगी । आत्म-त्याग और वैराग्य ही आश्रमका मूल मन्त्र है ।

चौथे नियमके सम्बन्धमें तेरसाने लिखा है कि 'दरिद्रता, वैराग्य और आत्म-त्यागकी शक्ति मनुष्यकी बड़ी भारी सम्पत्ति है । जो इस सम्पत्तिका अधिकारी होता है वह सब मनुष्योंपर अपना विशेषरूपसे प्रभाव डाल सकता है । हमें स्वयं इस बातका अनुभव हो गया है कि धन और पदमर्यादा—ये धर्मके मार्गमें बड़े विघ्न हैं । हम अपने आश्रमसे इन दोनोंको बिल्कुल अलग रक्खेंगी । वैराग्यके ऊपर ही हमारा आश्रम स्थापन होगा ।'

तेरसा प्राणपणसे अपने आश्रमकी उन्नतिमें लग गयी । उसके विपक्षी बहुत चिढ़ गये, उसपर अदालत-में यह मुकदमा चलाया गया कि बिना शासकोंकी अनुमति लिये ही उसने नयी तरहका आश्रम स्थापित किया है । उसके आश्रमके धर्ममतमें और देशके प्रचलित धर्ममतमें बड़ा अनैक्य है । बड़ी दिक्कतके बादमें अन्तमें अदालतसे तेरसा जीत गयी । इस समय एक और अनहोनी बात हो गयी । वह यह कि तेरसाने बड़ा परिश्रम करके अपने आश्रमके सम्बन्ध-में रोमके पोप (ईसाइयोंके सर्वप्रधान धर्माचार्य) की लिखी हुई अनुमति ले ली । इससे उसके खिलाफ आवाज उठानेकी लोगोंकी हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि भीतर-भीतर वे जलते थे पर जिस आश्रमका रोमके पोपने समर्थन कर दिया किसीकी क्या सामर्थ्य है कि उसके खिलाफ आवाज़ उठावे ।

फिर भी देशमें दो दल हो गये । एक दल तो सर्वथा रूढ़ियोंका पक्षपाती था जो तेरसा और उसके आश्रमकी निन्दा और उन्हें हर तरह हानि पहुँचानेका यत्न करने लगा । दूसरे दलमें अनेक शिक्षित लोग थे जो तेरसाके धर्मकार्यमें तन, मन, धनसे पूरी तरह सहायता करते थे ।

तपस्विनी तेरसाका कर्मक्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ने लगा । अनेक जगहें आश्रम स्थापन कर वह धर्मकी उन्नति-का यत्न करने लगी । उसके उपयोगसे एक कालेज भी स्थापित हुआ । कुछ दिनों बाद उस शक्ति-शालिनी तपस्विनी नारीके सामने सैकड़ों स्त्री और पुरुष अपना सिर झुकाने लगे । जैसे संग्राममें योद्धा अनेक विघ्न-बाधा होनेपर भी अपने लक्ष्यसे क्षण-भरके लिये नहीं हटता उसी प्रकार तपस्विनी तेरसा विघ्न-बाधाओंकी कुछ भी परवा न करके सदा अपने उद्देश्यमें अटल रहती थी । उसका ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि धनी लोग आश्रमके लिये खूब रुपया देते थे, ज्ञानी लोग उसके काममें सहायता देते थे और धार्मिक जन उसके स्थापित आश्रमोंमें भरती होते थे । संन्यासिनी तेरसाने अकेली होनेपर भी सैकड़ों पुरुषोंकी शक्ति प्राप्त कर ली थी और वह बड़े उत्साह-से अपना उच्च धर्मकार्य कर रही थी ।

धीरे-धीरे तेरसाकी महिमा और भी बढ़ने लगी । अनेक नर और नारी इस तपस्विनीके चरणोंमें बड़े भक्तिपूर्वक पुष्पाञ्जलि चढ़ाते थे । अनेक धार्मिक जन उसका उपदेश सुनकर धन्य होते थे; धनी लोग उसके पुण्य-कार्योंमें सहायता देकर फूले नहीं समाते थे । उसे कोई कितना भी बड़ा आदमी कितने भी अधिक धनकी सहायता क्यों न देता पर वह कभी

अपने उच्च आदर्शसे नहीं हटी, कभी उसने अपनेको हीन नहीं होने दिया। इस तपस्विनीने अपने चरित्र और धर्मबलसे अपने लिये इतना ऊँचा आसन तैयार कर लिया था कि स्पेनका सम्राट् भी उसे उस आसनसे नहीं गिरा सकता था। तेरसा इतनी निर्भीक थी कि यदि सम्राट् कोई अन्याय करते तो यह वीर तपस्विनी उसका प्रतिवाद किये बिना नहीं रहती थी, इसी साहसके कारण सम्राट् भी उससे भय और भक्ति करते थे।

तेरसा जब आश्रमसे बाहर जाती तो मालूम होनेपर रास्तेमें दोनों तरफ लोगोंकी भीड़ हो जाती थी। धनी-दरिद्र, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—सभी उसको देखनेके उत्सुक थे, लोग उसकी गाड़ीके साथ-साथ जाते थे। उसपर लोगोंका बड़ा विश्वास था। वे सदा उसके आशीर्वादकी इच्छा करते थे। भिलानीडवा-नगरमें कितने ही दिनोंसे वर्षा नहीं हुई थी। वहाँ अकस्मात् तेरसा पहुँच गयी। उसके आते ही वहाँ बड़ी भारी वर्षा हुई। लोगोंने यही समझा कि नगरमें इस पुण्यात्मा नारीके पदार्पण करनेहीसे इतने दिनों बाद वर्षा हुई है।

तपस्विनी तेरसाकी चरित्र-लेखिकाने लिखा है कि, 'देशके लोग उसमें इतनी भक्ति और आदर करते थे कि राजा फिलिपि या उसके सेनापतिका भी लोग उतना आदर करते थे या नहीं, इसमें सन्देह ही है।'

सन् १५८२ की सितम्बर-मासमें आलवरकी श्रीमती ड्यूक-पत्नीकी यह तीव्र उत्कण्ठा हुई कि मुझे तपस्विनी तेरसाके दर्शन हों। ड्यूक-पत्नीके गर्भ था। उसका विश्वास था कि यदि तेरसा आशीर्वाद दे जायगी और ईश्वर-प्रार्थना कर जायगी तो सन्तान अच्छी होगी। पर तेरसा उस समय बहुत वृद्धा थी, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था. स्थान भी दूर था; किन्तु ड्यूक-पत्नीकी भक्तिसे आकर्षित होकर वह उसके पास गयी। तेरसा वहाँ जाकर रोग-शय्यापर पड़ गयी और अपनेको प्रभुके हाथोंमें अर्पण कर शान्त चित्तसे रोग-यन्त्रणा सहने लगी।

मृत्युसे तीन दिन पहले उसने अपने अपराध जाहिर करने (confession) के लिये एक पादरीको बुलाया। वे पादरी तेरसापर बड़ी भक्ति और प्रेम करते थे। वे तेरसाको मृत्यु-शय्यापर देखकर अपने मनको नहीं रोक सके और उसके सामने घुटनोंके बल बैठकर अश्रु-विसर्जन करते हुए बोले कि, 'माँ! इस समय तुम हमें त्याग करके क्यों चली जा रही हो? परमात्मा इस पृथिवीपर तुम्हें और थोड़े दिनों बनाये रक्खें।' तपस्विनी तेरसाने उत्तर दिया कि 'पिताजी! आपके मुखमें यह बात शोभा नहीं देती। मेरा काम खतम हो गया है, अब मेरे संसारमें रहनेकी जरूरत नहीं है; अब मैं परमेश्वरके पास जानेके लिये तैयार हूँ।'

तपस्विनी तेरसाने आश्रमकी संन्यासिनियोंसे कहा, 'मैंने तुम्हें अनेक बुरे उदाहरण दिखाये हैं, उनके लिये मुझे आज क्षमा करो। तुम मेरे अन्याय-कार्यका अनुकरण मत करना। मुझमें अनेक पाप हैं। मैंने क्या आश्रमके नियम पालन किये हैं? मुझसे ऐसा नहीं हो सका। मैं तुमसे ईश्वरके नामपर अनुरोध करती हूँ कि आश्रमको उच्च आदर्शके अनुकूल ही चलाना।' इन शब्दोंमें कितनी सरलता, कितनी सचाई और कितना भक्तिका भाव भरा हुआ है इसका विचारशील पाठक स्वयं अनुभव करें।

यों तो तेरसा सदा ही ईश्वरका ध्यान किया करती पर इधर मृत्युसे कुछ दिन पहले वह विशेष-रूपसे ईश्वरहीका चिन्तन करती थी। सन् १५८२ में दूसरी अक्टूबरका दिन आ गया। रात्रिके ९ बजेका समय था। उस समय तपस्विनी तेरसाकी मूर्ति एक

अनुपम ज्योतिसे देदीप्यमान हो गयी थी। पासके लोगोंने देखा कि उस समय तेरसा ईश्वरके ध्यानमें पूरी तरह मग्न थी। उसी दशामें यह तपस्विनी अपना नश्वर शरीर त्यागकर सदाके लिये उसी परम पिता परमात्माके चरणोंमें लीन हो गयी। सन् १६१४ में रोमके पोपने परलोकवासिनी तेरसाको दिव्यलोककी अधिकारिणी घोषित किया। जिस समय यह समाचार स्पेनमें पहुँचा तो वहाँ सब श्रेणीके लोग आनन्दोत्सवमें उन्मत्त हो गये। सन् १६२२ की १२ वीं मईको रोमके पोपने तपस्विनी तेरसाको सन्तोंकी श्रेणीमें शामिल किया अर्थात् उस दिनसे वह भी और बड़े-बड़े सन्तोंकी तरह 'सेण्ट' (Saint) अर्थात् 'सन्त' कहलाने लगी।

विश्वास है कि तपस्विनी तेरसाकी जीवनीसे पाठक पूरा लाभ उठावेंगे। *

कल्याणका मार्ग

(लेखक—स्वामी ॐकारानन्दजी परमहंस)

मनुष्य-देहका मुख्य उद्देश्य सुखको प्राप्त करना और दुःखसे छूटना है। यह उद्देश्य कैसे प्राप्त हो सकता है, यही बात इस लेखमें बतलायी जायगी। श्रुति कहती है—

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
(ईश० १)

जो कुछ जगत्में नामरूपात्मक है वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादित है। अर्थात् समस्त जगत्में ईश्वर (वैसे ही) ओतप्रोत है जैसे—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥
(श्वेता० १। १५)

तिलोंमें तेल, दहीमें घी, झरनोंमें जल और अरणि (समिधा) में अग्नि है। जो इसको देखना चाहता है उसके लिये यह सत्य और तपके द्वारा अपनेमें ही पाया जाता है। क्योंकि वह सब भूतोंमें समानरूपसे व्यापक है।

इसप्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान हो जानेपर मनुष्य पाप नहीं कर सकता। वह सच्चा आस्तिक बन जाता है। सच्चा आस्तिक बननेपर ही सब दुःखोंकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति होती है। किसी महात्माने कहा है कि 'हे मन! जो तू पाप करना चाहे तो ऐसी जगह ढूँढ, जहाँ सर्वदर्शी परमात्मा तुम्हें न देखे। नहीं तो पाप ही न कर। हे मन! जिस कर्मको ईश्वरने बुरा बतलाया है, उससे बच, नहीं तो उसके राज्यसे बाहर चला जा।'

एक ब्रह्मनिष्ठ तपस्वीके पास दो जिज्ञासु परा विद्या सीखनेके लिये गये और उनसे प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हमें शिष्य बनाकर ब्रह्मका बोध कराइये।' यह सुनकर उस तपस्वीने उन दोनोंकी परीक्षा लेनेके विचारसे कहा कि 'जाओ, एक ऐसे स्थानसे एक-एक फल तोड़ लाओ, जहाँ कोई तुम्हें देखता न हो।' दोनों शिष्य चले गये और कुछ ही देरमें वापस आ गये। उनमें एक तो फल लेकर आया था और दूसरा खाली हाथ। तपस्वीने पहलेसे पूछा—'तुमको इस फलके तोड़ते समय किसीने देखा था या नहीं?' उसने उत्तर दिया कि फल तोड़ते समय मुझको किसीने नहीं देखा था। वहाँ कोई था ही नहीं। फिर तपस्वीने दूसरेसे खाली हाथ लौटनेका कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि 'भगवन्! मुझे तो कोई ऐसा स्थान नहीं मिला, जहाँ पहलेसे कोई देखनेवाला उपस्थित न हो। जहाँ गया, मैंने देखा, वहीं द्रष्टा भगवान् पहलेसे मौजूद हैं।' ठीक है, स्थानकी तो बात ही क्या, हमारे मन और बुद्धिमें जो कुछ होता रहता है उसका भी द्रष्टा (साक्षी) भगवान् है। वह तो मनका भी मन है, बुद्धिकी भी बुद्धि है। वह हमारी मन-

* हँगला 'तापसी' के आधारपर लिखित।

बुद्धिका द्रष्टा है । तपस्वीने इस शिष्यको गले लगा लिया और उसको अपना शिष्य बनाया और फल लानेवालेको यह कहकर वापस कर दिया कि तुम नास्तिक हो और परा-विद्याके अधिकारी नहीं हो ।

प्रिय पाठकगण ! सच्चा आस्तिक होना ही एकमात्र ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन है । वह प्रभु—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केन० १ । २)

श्रोत्रका श्रोत्र है, मनका मन है, वाणीकी वाणी है, वह प्राणका प्राण है, चक्षुका चक्षु है, उस अपने आत्माको जानकर देहेन्द्रियादिमें आत्मभावका भलीभाँति त्याग कर विवेकी पुरुष इस लोकसे देह त्यागकर अमरत्वको प्राप्त होते हैं । वह कान, मन, वाणी और नेत्रोंका प्रेरक और साक्षी (द्रष्टा) है । इसलिये—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

हे भगवन् ! हम कानोंसे भगवच्चरित्र, सत्पुरुषोंका जीवनचरित्र और धर्मकथा ही सुनें और परनिन्दा, परुष वचन कदापि न सुनें । नेत्रोंसे कल्याणकारी वस्तुओंको देखें, परदारा और परधनकी ओर न देखें । और स्थिर दृढ़ अङ्गोंसे आपकी सदा स्तुति करते हुए अपनी आयु जो परहितके लिये है, उसे यज्ञ (परोपकार), दान और तप आदिमें लगा दें ।

उपर्युक्त श्रुतिमें दूसरा पद है, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।' अभिप्राय यह है कि 'एकमात्र परमेश्वर ही सत्य है, जगत् उसमें कल्पित है । अतएव यह असत् है । इसलिये जगत्को सत्य समझना भूल है । इसप्रकार जगत्के सत्य भावको छोड़कर केवल आत्माके द्वारा सबको निराकृत कर जगत्से पृथक् हो आत्म-सुखको प्राप्त करे ।' पचीस तत्त्वोंका यह स्थूल शरीर दृश्य, अनात्मा और भोगका आयतन है । मैं इसका द्रष्टा हूँ । अर्थात् मैं ये पचीस तत्त्व नहीं हूँ, और न ये तत्त्व ही मेरे हैं—ये तो पञ्चीकृत महाभूतके हैं । मैं इनका जाननेवाला साक्षी हूँ । जैसे घटका देखनेवाला घटसे अलग होता है, वैसे ही मैं इनसे अलग हूँ । सुख, दुःखके अनुभवरूप भोगका स्थान अन्नमय कोष है । जन्मसे पहले और मृत्युके बाद इस अन्नमय कोष—स्थूल शरीरका अभाव रहता है । यह उत्पत्ति और नाशवान् होनेके कारण घटके समान कार्य है और मैं सदा भावरूप हूँ । उत्पत्ति-नाशसे रहित होनेके कारण विलक्षण हूँ । इसलिये यह अन्नमय कोष—स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ और न यह मेरा है । यह स्थूल शरीर दृश्य है और मैं इसका साक्षी—द्रष्टा हूँ । पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सतरह तत्त्वोंका सूक्ष्म शरीर है; अर्थात् प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष ही सूक्ष्म शरीर है । यह सतरह तत्त्वोंका अपञ्चीकृत सूक्ष्म शरीर भोगका साधन और घटकी तरह जड है, मैं इसका साक्षी, चेतन हूँ । यह सूक्ष्म देह दृश्य है और मैं इसका द्रष्टा हूँ । इसके सिवा मैं आनन्दमय कोष (कारण-शरीर) भी नहीं हूँ और न यह मेरा है । यह तो दृश्य है और मैं इसका द्रष्टा हूँ । 'मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता'—ऐसी जो अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं उनको ज्ञात-अज्ञात वस्तुरूपमें मैं जानता हूँ, देखता हूँ । इसीलिये मैं कारण-शरीर नहीं हूँ और न यह मेरा है—यह तो अज्ञानका है । मैं तो सब वृत्तियोंका साक्षी, निर्विकार हूँ ।

स्वप्न और सुषुप्तिसे भिन्न इन्द्रियजन्य ज्ञानका आधार तथा उसके संस्कारका आधार जाग्रदवस्था है । इन्द्रियोंसे अजन्य विषयगोचर अन्तःकरणकी अपरोक्ष-वृत्तिका काल स्वप्नावस्था है और जहाँ सब कारणोंका लय हो जाता है वह सुषुप्ति है । अर्थात् सुख और अविद्यागोचर अविद्याकी वृत्तिका काल सुषुप्ति है । यह तीन अवस्था भी मैं नहीं हूँ, और न ये मेरी हैं; मैं तो इनका साक्षी हूँ और इनसे न्यारा हूँ । इसप्रकार अनात्मसे आत्म-तत्त्वको पृथक् देखना ही आत्मानात्मविवेक है ।

तीसरा पद आता है—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।' इसका अर्थ है किसीके धनकी आकांक्षा न करो । अर्थात् जो कुछ ईश्वरने तुमको दिया है, उसको स्वीकार करके किसीके धनकी इच्छा मत करो । क्योंकि धन किसीका नहीं है । वृथा तृष्णाको बढ़ानेसे कुछ होता भी नहीं है, मिलता है वही जो प्रारब्धमें होता है । कहा भी है—

करम कमंडल कर गहे तुलसी जहँ लग जाय ।
सरिता सागर कूप जल अधिक न बूँद समाय ॥

तृष्णा सब व्याधियोंका मूल है और सन्तोष परम सुख है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
(ईश० १५)

'हे जगत्के पालन करनेवाले ! मैं तुम्हारे मङ्गलमय मुखका दर्शन करना चाहता हूँ, वह मोहिनीमायारूपी स्वर्णमय पात्रसे ढँका हुआ है। तुम अपनी मायाको हटा लो, जिससे मैं तुम्हारा दर्शन कर सकूँ। मैंने सत्य धर्मको ग्रहण करके विधिपूर्वक तुम्हारी उपासना की है। उसका फल अब मुझ सत्यधर्मावलम्बीको प्राप्त होना चाहिये।' वस्तुतः परमार्थसे गिरानेवाली, मोक्षसे विमुख करनेवाली मोहिनी मायाके दो ही अस्त्र हैं—कनक और कामिनी। इनकी आसक्तिका त्याग करनेवाला ही मोक्षका अधिकारी होता है, वही सब दुःखोंसे छूटकर परमानन्दको भोगता है।

'एतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति'—(बृहदारण्यक० १।३।२८)

उद्गाता इसप्रकार जपे—हे भगवन् ! असत्से मुझे सत्यमें पहुँचा दो। अर्थात् असत्, अनित्य और नाशवान् पदार्थोंमें मैं कभी न फँसूँ। सदैव अपने सत् स्वरूपमें ही लगा रहूँ। मुझे तमसे ज्योति—प्रकाशमें पहुँचा दो। अर्थात् अविद्या, अज्ञान, अविवेकरूपी जो अन्धकार है उससे मुझे विद्या, ज्ञान, विवेकरूपी प्रकाशमें पहुँचा दो। मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर पहुँचा दो। अर्थात् जो बार-बार जन्म-मरणका चक्र लगा हुआ है, उससे मुझे छुड़ाकर अमृत अर्थात् मोक्ष (परमपद) को पहुँचा दो।

ॐ त्वमक्षितमसि, ॐ त्वमच्युतमसि ॐ त्वं प्राणसंशितमसि।
(छान्दोग्य० ३।१७।६)

'हे जीवात्मा ! तू नाशरहित है; तू परिवर्तनरहित सदा एकरस है; तू मुख्य प्राण है, ब्रह्मस्वरूप है।' वस्तुतः जीव-ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं, केवल कल्पित उपाधिभेद है। दोनों एक ही हैं।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर॥
(ईश० १७)

यह शरीर नाशवान् है। इसकी कोई निश्चित अवधि नहीं है। इसलिये सदैव मृत्युको सामने खड़ा देखते हुए उपासक पुरुषको सूत्रात्मा प्राणका इसप्रकार अनुसन्धान (चिन्तन) करना चाहिये। मेरा प्राण किसी-न-किसी दिन अमर भावरूप वायु-देवतामें लीन हो जायगा और यह शरीर भस्मावशिष्ट हो जायगा। अतः हे मन ! ॐकारके वाच्य परमात्माको स्मरण कर, सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका स्मरण कर। हे मन ! सँभल, सावधान हो जा। परमात्मामें दृढ़ होकर लग जा। आत्मस्वरूपके चिन्तनमें सदा लीन रह। इसीलिये, अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञानमें प्रवेश होनेके लिये तुझे मनुष्य-योनि मिली है।

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल एकान्तमें बैठकर रात्रि-भरके अपने किये शुभाशुभ कर्मोंकी जाँच करता है, पुनः शुभ कर्मोंके लिये ईश्वरको धन्यवाद देता हुआ उन्हें ईश्वरार्पण और अशुभ कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करता है तथा सायङ्काल दिनभरके अपने किये शुभाशुभ कर्मोंकी जाँचकर शुभ कर्मोंके लिये ईश्वरको धन्यवाद तथा अशुभ कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करता हुआ उन्हें पुनः न करनेकी प्रतिज्ञा करता है, उस मनुष्यसे कुछ ही दिनोंमें सब अशुभ कर्म छूट जाते हैं और वह सच्चा आस्तिक होकर परमानन्दको भोगता है।

मनुष्यके मल, विक्षेप और आवरण—यही तीन मुख्य दोष हैं। मलको दूर करनेके लिये श्रुतिमें निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इस संसारमें निष्काम कर्मोंको अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये अवश्य ही करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे, इसप्रकार तुझ मनुष्यमें कर्म लिपायमान नहीं होगा, सन्ध्या-अग्निहोत्रादि नित्य-कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये होंगे। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञानकी प्राप्ति होगी और ज्ञानद्वारा तू मुक्तिको प्राप्त होगा।

विक्षेप-दोष उपासनाद्वारा दूर होता है। उपासनाके दो भेद हैं—प्रतीक और अहंग्रह।

'न प्रतीकेन हि सः।' (ब्र० सू० ४।१।४)

अर्थात् प्रतीकोंमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये, न कि ब्रह्ममें प्रतीक-भावना करना।

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।' (ब्र०सू०४।१।३)

परमात्माको अपना आत्मा, अपना निजस्वरूप समझते हुए ही चिन्तन करना चाहिये। अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार करनेके लिये उपासकको अपने आत्मस्वरूपमें ही ब्रह्मका निरन्तर चिन्तन करना होगा। अर्थात् उस परमात्माको अपनी आत्माके रूपमें जानना होगा।

इन दोनों उपासनाओंसे चित्तकी चञ्चलता दूर होती है और ज्ञानका उदय होता है। तब आवरण-दोष भी दूर हो जाता है। फिर जैसे विवेकसे अविवेक, प्रकाशसे अन्धकार, विद्यासे अविद्याका नाश होता है वैसे ही ज्ञानसे आवरण भी दूर हो जाता है और आवरणके दूर होते ही आत्म-ज्योतिमें स्थिति हो जाती है, जो परम पद है तथा मनुष्यके लिये परम पुरुषार्थ है।
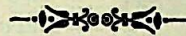
नराकार ईश्वर, अद्वैतवाद और भक्तिवाद

(लेखक—ठाकुर श्रीगजराजसिंहजी एम० ए०, एल-एल० बी०)

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
(यजुर्वेद)

अद्वैतशैववेदोऽयं द्वैतं न सहते क्वचित्।
(शिवपुराण)

लेखका उद्देश्य

हमारे इस तुच्छ लेखका उद्देश्य सामान्यतः सब सज्जनोंकी और विशेषकर उन साधारण कोटिके पाठकोंकी सेवा करना है जो 'कल्याण' के भक्ति-ज्ञान-विषयक कई असाधारण विद्वत्तापूर्ण अध्यात्म-सम्बन्धी लेखोंसे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते और जो, विद्वानोंमें मत-भेद होनेके कारण, कल्याणमार्गके अटल मूल सिद्धान्त और उनके वास्तविक परस्पर-सम्बन्धके निर्णयमें संशयात्मा रहा करते हों। इस उद्देश्यको ध्यानमें रख हमने प्रायः सम्पूर्ण कल्याणमार्गका विवेचन ऐसी सरल और साधारण बोलचालकी भाषामें किया है जिसे कठिन शास्त्रीय भाषासे अपरिचित साधारण पाठक भी समझ सकें और अनेक ग्रन्थोंका अवलोकन किये बिना ही सनातनधर्मकी साररूप वस्तुको ग्रहण कर सकें।

ईश्वर निराकार और सर्वशक्तिसम्पन्न है। फिर अवतार लेनेकी आवश्यकता क्या? प्रतिष्ठित पुरुषविशेष बननेकी सार्थकता क्या? ऐसे अनेक प्रश्न वे लोग किया करते हैं जो या तो अवतारवादको नहीं मानते या मानते हुए भी निश्चय और अनिश्चयकी सीमापर खड़े हैं। इनके सिवा ऐसे भी कई सज्जन हैं जो अवतारवादको मानते हुए भी अद्वैतवाद-को नहीं मानते। वाद-सम्बन्धी इस मत-भेदके कारण ज्ञानके पक्षपाती कई सज्जन भक्तिके पूर्ण महत्त्वका अनुभव नहीं करते और कभी-कभी तो माता (भक्ति) से बिल्कुल नाता तोड़ उसका अनादर करते देखे जाते हैं। इनके विपरीत कई भक्तिके पक्षपाती सज्जन भी भक्तिको साधन और साध्य मान ज्ञानकी न्यूनता दिखलाते रहते हैं और कभी-कभी तो उपहासरूपमें। इसप्रकार एक ही घरमें माँ-बेटेमें मत-भेद और कभी-कभी कलह देखी जाती है, क्योंकि कलियुग कलह-युग है ही।

जब हम इस मत-भेद और कलहसे आगे बढ़ 'पञ्चदेवोपासना' में प्रवेश करते हैं तो यह देखकर हमारे आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती कि एक ही मार्गके यात्रियोंमें ही (भक्तिके पक्षपातियोंमें) उपास्यदेवविषयक कलह हुआ करती है। किसी समयमें तो शैव और वैष्णवोंकी कलह बहुत ही शोचनीय अवस्थापर जा पहुँची थी। सौभाग्यसे वर्तमानकालमें यद्यपि कलहकी उतनी उग्रता नहीं है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा विनष्ट हो गयी है। कम-से-कम अभी भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय-प्रेमी कई सज्जन शिव और विष्णुमें कुछ-न-कुछ तारतम्य बतलाते हुए देखे जाते हैं, यद्यपि वे द्वेषबुद्धिसे ऐसा नहीं करते। इनके सिवा सर्वथा अभेदवादी भी पाये जाते हैं।

जब हम और भी आगे बढ़ वैष्णवधर्मान्तर्गत भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें प्रवेश करते हैं तो यहाँ भी अंश-अंशिभाव-की प्रधानता सर्वोपरि दिखायी देती है। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवको सर्वश्रेष्ठ, अंशी मानता और सिद्ध भी करता रहता है। निस्सन्देह जैसी वैष्णव-सम्प्रदायोंकी अनेकता और प्रबलता देखी जाती है वैसी अन्यत्र न

मिलेगी। स्वभावतः अनेकतामें भेद-भावकी पूर्णता भी होनी चाहिये।

जब हम उक्त मत-भेदकी भूमि (शास्त्र) पर आते हैं तो यह पाते हैं कि शास्त्रोंमें, विशेषकर पुराण-संहिताओंमें, ऐसे परस्परविरोधी वाक्य मिलते हैं जिनसे अनेक मत और सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हो सकती है। उपासकगण पुराणोंसे अपने मतानुकूल प्रमाणोंको ग्रहणकर तथा प्रतिकूलकी उपेक्षाकर अपने-अपने विजयका डङ्का बजाते या बजा सकते हैं। कहीं ज्ञानकी श्रेष्ठता बतलायी गयी है, कहीं भक्तिकी। कहीं शिव-विष्णु (या पञ्चदेव) में अभेद प्रतिपादित है, कहीं किञ्चित् भेद भी। कहीं नारायण सब अवतारोंके कारण माने जा रहे हैं, कहीं राम और कृष्ण भी। कहीं नारायण ही रामके अंश माने जा रहे हैं, कहीं कृष्णके; कहीं राम-कृष्ण नारायणके, कहीं राम कृष्णके या कृष्ण रामके। एक ओर गर्गसंहिताके राम कृष्णमें लीन हो रहे हैं, दूसरी ओर शुकसंहिताके कृष्ण राममें या ब्रह्मवैवर्त्तके नारायण कृष्णमें। इसी प्रकार वैकुण्ठादि लोकोंका हाल है। सारांश, सत्यता कहाँ है ? सबसे बड़े भगवान् कौन हैं, कहाँ रहते हैं ? पता नहीं लगता। यदि ऐसे परस्पर-विरोधी वाक्योंका सामञ्जस्य हो, उक्त भगवानोंकी भी एकता स्थापित हो जाय तो अच्छा है, क्योंकि आनन्द एकतामें है, अनेकतामें नहीं—'यावन्नानात्वं तावत्कालकृतं भयम्।' यदि सामञ्जस्य न हो सके तो सत्यताका ही मुँह दीख जाय तो और भी अच्छा है। बस, हमारे लेखका यही उद्देश्य है।

हम कोई विद्वान् लेखक नहीं, प्रत्युत विद्वानोंके चरणोंकी रजके तुल्य भी नहीं हैं। अतएव हमारा यह दावा करना कि हम अपने उद्देश्यमें सफल ही हो जायँगे, निरा अभिमान होगा। तो भी इसी बहानेसे यदि कुछ भगवच्चर्चा और अध्यात्मनिरूपण हो जाय तो हमारा और पाठकोंका कल्याण ही है। अतः यह लेख भी 'कल्याण' के लिये है।

संक्षेपसे लिखते हुए भी यह लेख बहुत बड़ा अवश्य हो गया है। पर विषयको देखते हुए छोटा ही है। इस लेखद्वारा हम पाठकोंको अपने विषयकी सूक्ष्म उलझनोंमें न डालेंगे, क्योंकि हम इस योग्य भी नहीं हैं। अतः कल्याणमार्गके जिन मूलसिद्धान्तोंमें मतभेद पाया जाता है उन्हींका साधारण पाठकोंके कल्याणार्थ निरूपण कर भेदको अभेदमें परिवर्तित करेंगे। आशा है कि सहृदय और धैर्यशील पाठक इस लम्बी, कँकरीली, पथरीली और कण्टकमय यात्रामें अन्ततक हमारा साथ देंगे। अब हम अपने विषयमें प्रवेश करते हैं।

नराकार ईश्वरकी आवश्यकता — अद्वैतवादके समर्थक स्वामी विवेकानन्दका विवेकयुक्त कथन है—

By the present constitution of our mind, we are limited and bound to see God as man, Truly has it been said that if the buffaloes want to worship God, they will, in keeping with their own nature, conceive Him as a huge buffalo; if a fish wants to do the same, it will have to form an idea of Him as a big fish; and man will have to think of God as man. For the man, the buffalo and the fish may be supposed to represent so many different vessels, with different shapes and capacities. And if we imagine those vessels to go to the sea of God to get filled with water, the result becomes that in man water takes the shape of a man, in the buffalo the shape of a buffalo, and in the fish the shape of a fish. For one has indeed no other way about thinking and worshipping God.

Two kinds of men alone do not worship God as man—the human brute who has no religion whatsoever and the liberated soul, the Paramahansa, who has risen beyond all weaknesses, transcended the limits of his own nature and realised God in himself.

(Swami on Bhakti Yoga)

अर्थात् 'हमें अपनी वर्तमान परिमित मानसिक स्थितिके अनुसार ईश्वरको मनुष्यरूपमें देखना (चिन्तन करना) पड़ेगा। सच ही कहा गया है कि यदि भैंस भजन करनेकी इच्छा करे तो वह भी अपनी आकृतिके अनुरूप ईश्वरको एक बड़ी भैंसके रूपमें देखेगी। इसी प्रकार मछली मछलीरूपमें देखेगी और पुरुष पुरुषोत्तमरूपमें (उत्तम पुरुषरूपमें)। उदाहरणार्थ, तीन बर्तन ऐसे लो जो क्रमशः मनुष्य, भैंस और मछलीके भिन्न-भिन्न आकार और परिमाण-

वाले हों। उन्हें ईश्वररूपी समुद्रमें डुबाओ। परिणाम यह होगा कि मनुष्याकार बर्तनका जल भी मनुष्याकार दिखायी देने लगेगा, भैंसाकार और मत्स्याकार बर्तनोंका क्रमशः भैंसाकार और मत्स्याकार। इसके सिवा ईश्वर-चिन्तन और पूजनका अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

केवल दो कोटिके मनुष्य ईश्वरको मनुष्यरूपमें नहीं भजते। पहली कोटिमें वे आते हैं जो (नितान्त) धर्मशून्य नरपशु ही हैं। दूसरी कोटिमें वे परमहंस हैं जो अपनी परिमित मानसिक स्थिति और मानव-दोषोंसे परे हों अपने ही अन्तःकरणमें ईश्वरसाक्षात्कार कर चुके हैं।'

(स्वामीकृत 'भक्तियोग' से)

आगे चलकर स्वामीजीके कथनका भावार्थ यह है कि 'उक्त दोनों कोटियोंके बीचमें रहनेवाले साधारण मनुष्योंमेंसे यदि कोई कहे कि न तो मैं ईश्वरको मनुष्यरूपमें मानूँगा और न भजूँगा तो समझ लो कि वह केवल बकवादी पुरुष है जो चाहे जितनी ईश्वर-सम्बन्धी चर्चा क्यों न कर सके, अवतारवादको दूषित क्यों न बतला सके पर साक्षात्कार या आत्मानुभवकी दृष्टिसे सड़कपर घूमनेवाले अज्ञानी पुरुषके ही तुल्य है, प्रत्युत उससे भी अधिक त्रासदायक है। अज्ञानी पुरुष इसप्रकारकी बकवाद न कर सकनेके कारण दूसरे लोगोंकी शान्ति भङ्ग नहीं करता परन्तु बकवादी ज्ञानी अपनी वाचालतासे मनुष्यमात्रको त्रासदायक हो जाता है।'

स्वामीजीके उक्त वचन थोड़े, किन्तु बड़े सारगर्भित हैं जिनमें संक्षेपसे अद्वैतवाद, अवतारवाद और भक्तिवादका रहस्य आ गया है। पहले तो यही शिक्षा मिलती है कि साधारण स्थितिका पुरुष नराकार ईश्वरका चिन्तन किया करे। यदि नहीं करेगा तो वास्तविक आत्मोन्नति न कर सकेगा। निःसन्देह जिस धर्ममें जितनी अधिकतासे नराकार ईश्वरकी उपासना होगी उस धर्मके लोगोंमें उतनी ही अधिकतासे आत्मोन्नतिका प्रकाश भी होगा। सम्भवतः यही कारण हो सकता है कि साधारण लोग प्रायः ईश्वरके पूर्ण नराकार सुन्दर अवतार या रूपोंकी उपासना करते हैं, मत्स्यादि अवतारोंकी नहीं करते। न केवल साधारण पुरुष, किन्तु असाधारण ज्ञान-विज्ञान-विशारद ऋषियोंने भी साधारण लोगोंके ही कल्याणार्थ रामकृष्णावतारोंकी उपासना कर भक्तिरसका अक्षय श्रोत बहाया है, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण दूसरे लोग भी किया करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

(गीता)

उक्त कथनके 'in keeping with their own nature' ये शब्द भी बड़े महत्त्वके हैं, जिनका आशय यही है कि प्रत्येक मनुष्य भी अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृतिके भिन्न-भिन्न सुन्दर आदर्शानुसार ईश्वरके भिन्न-भिन्न नर-रूपों-की उपासना करता है। यदि हमारी प्रकृतिका आदर्श शृङ्गारोपासना है तो हम कृष्णकी शृंगारलीलाओंकी ओर झुकेंगे। यदि प्रकृतिकी प्रेरणा शरणागतिकी ओर है तो राम भी हमारे चहुँओर है। गोसाईंजीने क्या ही सुन्दर वर्णन किया है—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥
देखहिं भूप महारणधीरा। मनहुँ वीररस धरे शरीरा॥

× × × ×

पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥
नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहति शृंगार धरि मूरति परम अनूप॥

भगवान् भी अपनी भिन्न-भिन्न लीलाओंद्वारा हमारी ही प्रकृतिके भिन्न-भिन्न आदर्शोंकी प्राप्ति कराते रहेंगे। यही भगवान्की असीम कृपा है, यही कृपामार्ग है, जो प्रायः अज्ञानवश साम्प्रदायिक विग्रहमार्ग बना दिया जाता है, यद्यपि प्रार्थना की जाती है नारायण-प्रसाद (ईश्वरकृपा) की। साधारण स्थितिमें और असाधारण स्थितिमें भी लोककल्याणार्थ अद्वैतवाद कृपामार्गको नहीं काटता। तात्पर्य यह कि ईश्वरके अमुक स्वरूपकी लीलाएँ अधिक महत्त्व रखती हैं, अमुककी कम—ऐसा कथन अज्ञानमूलक है—कम-से-कम हमारी ही रुचिके महत्त्वका शाब्दिक प्रकाश है। वास्तवमें हम अपने महत्त्वसे अलग नहीं और न हमारा महत्त्व हमसे अलग है। जो हमारे लिये महत्त्वदायक है वह दूसरेके लिये हो या न भी हो। अतएव यह लिख देना अनुचित नहीं कि उपासनादृष्टिसे ईश्वरके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंके उपासकोंमें साम्प्रदायिक विग्रह होना कृत्रिमता और अज्ञानमूलक दुराग्रहमात्र है।

इसके सिवा यह शिक्षा भी मिलती है कि भक्तिवादके विना अद्वैतवादकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हुई भी, तो वह अद्वैतवाद शीघ्र ही मुर्दा हो जायगा। पर किसी

स्थिति-विशेषमें अद्वैतवादकी आवश्यकता भी है, किन्तु जीते हुएकी है, मुर्देकी नहीं।

अन्तिम शिक्षा यह मिलती है कि जैसे मनुष्य या मत्स्याकार बर्तनका जल भी उपाधि-भेदसे मनुष्य या मत्स्याकार दिखायी देने लगता है, यद्यपि जलका वैसा वास्तविक आकार नहीं है, वैसे ही भक्त पुरुषोंके लिये ईश्वर नराकार है यद्यपि वास्तविक स्वरूप निराकार है, अर्थात् ईश्वरका कोई आकार नहीं है। अतएव जबतक ज्ञानोत्पत्ति न हो जाय तभीतक नराकार ईश्वरके भजनकी आवश्यकता है, तत्पश्चात् उसकी आवश्यकता लोक-कल्याणार्थ है। दूसरे शब्दोंमें यही कहेंगे कि भक्ति साधन है, शुद्ध ज्ञान साध्य है। इसी आशयको लक्ष्यमें रख 'नारदपाञ्चरात्र' की आनन्दसंहितामें आनन्दके दो स्वरूप बतलाये गये हैं, यथा—

'आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च।'

अर्थात् 'आनन्दके दो स्वरूप हैं—(१) मूर्त और (२) अमूर्त।' इसी अभिप्रायसे ब्रह्मवैवर्त्त (कृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ४३) में विष्णुने शिवजीको ब्रह्मके 'सगुण' और 'निर्गुण'—दो भेद बतलाये हैं, जिनमेंसे मायाश्रित सगुण ब्रह्म है और मायातीत निर्गुण ब्रह्म। यथा—

तद्ब्रह्म विविधं वस्तु सगुणं निर्गुणं शिव।
मायाश्रितो यः सगुणो मायातीतश्च निर्गुणः॥

श्लोकमें आनेवाले 'सगुण' और 'निर्गुण' शब्दोंमें 'गुण' शब्दका एक ही अर्थ किया गया है। किन्तु एक ही कालमें ब्रह्मको सगुण और निर्गुण माननेमें 'निर्गुण' का अर्थ तो 'सत्, रज और तमसे रहित' करना होगा, पर 'सगुण' का अर्थ 'करुणादि सकल दिव्य गुणोंका आश्रय' लेना होगा।

यहाँतक संक्षेपमें स्वामीजीके कथनका सार बतलाया गया। अब यह विचार करना चाहिये कि अद्वैतवाद पुराणोंको भी सहन होता है या नहीं। विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसे किसी असहनशील पुरुषको अपमान तनिक भी सहन नहीं होता वैसे ही पुराण भी किसी भी प्रकारके द्वैतको नहीं सह सकते। अपने कथनकी पुष्टिमें हम पाठकोंके सामने शैव-वैष्णवधर्मप्रधान पुराणोंके आठ प्रमाण उपस्थित करते हैं जिनसे किसी भी प्रकारका द्वैत सिद्ध न होगा, चाहे अर्थकी कितनी भी अधिक खींचतान क्यों न की जावे। प्रमाण ये हैं—

पुराणोंमें अद्वैतवाद — शिवपुराणे कैलाशसंहितायाम् अध्याय १० श्लोकार्द्ध १६६, १९४—

(१) अद्वैतशैववेदोऽयं द्वैतं न सहते क्वचित्॥

'यह अद्वैतशिव कभी भी द्वैत नहीं सहता।'

(२) सदाशिवोऽहमेवेति भावितात्मा गुरुः शिवः॥

'सदाशिवोऽहम्'—ऐसी भावना करनेवाला गुरु शिव है।' तथा च विद्येश्वरसंहितायाम् अ० १३ श्लोकार्द्ध ३५, ४१—

(३) जीवब्रह्मैक्यविषयं बुद्ध्वा प्रणवमभ्यसेत्॥

'जीव और ब्रह्मकी एकता जानकर प्रणवका जप करे।'

(४) ब्रह्मबुद्ध्या तदैक्यं च सोहंभावनया जपेत्॥

'ब्रह्मबुद्धिसे एक जानकर 'सोहंभावना' से जपे।'

पुनश्च श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे द्वितीयाध्याये सूत-वचनम्—

(५) अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥१३॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥७॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥२०॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्॥११॥

'(सूतजी कहते हैं कि) हे द्विजश्रेष्ठो! वर्णाश्रम-विभागसे पुरुषोंके स्वनुष्ठित धर्मोंकी सिद्धि यही है कि भगवद्भक्ति हो।'

'भगवान् वासुदेवमें प्रयोजित भक्तियोग शीघ्र ही वैराग्य और शुद्ध ज्ञानको उत्पन्न करता है।'

'इसप्रकार भक्तियोगसे प्रसन्न हुए मुक्तसङ्गजनको तत्त्वका ज्ञान हो जाता है।'

'तत्त्ववेत्ताजन अद्वैतज्ञानको ही तत्त्वज्ञान कहते हैं।'

तथा च द्वादशस्कन्धे अन्तिमाध्याये सूतवचनम्—

(६) सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥१२॥

'ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणवाला अद्वैतज्ञान ही सर्ववेदान्तसार है, जिसमें निष्ठाजनित कैवल्यमुक्ति ही एक प्रयोजन है।'

बुद्धिमान् पाठक ध्यान देंगे कि श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमेंसे जो चार श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे तेरहवाँ और सातवाँ श्लोक मिलकर अद्वैतज्ञानके साधनोंका भी प्रतिपादन कर शङ्कराचार्यजीके निम्नलिखित वाक्योंकी पुष्टि भी कर रहे हैं—

(७) स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनञ्च भवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥
(अपरोक्षानुभूति)

'अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका अनुष्ठान, तप और भगवद्-भक्तिद्वारा वैराग्यादि साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति (ज्ञानकी उत्पत्ति) हो जाती है।'

ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायणके बालकाण्ड (सर्ग १ श्लोक ५०) में स्वयं भगवान् राम अपने परमभक्त हनुमान्‌जीको तत्त्वज्ञान और महावाक्यका उपदेश इस-प्रकार करते हैं—

(८) (क) ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनः।
तदाविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः॥

'महावाक्यद्वारा आत्मा और परमात्माका ऐक्यज्ञान होते ही अविद्या अपने कार्योंसहित निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाती है।'

किष्किन्धाकाण्डके प्रथम सर्गमें (श्लोकार्द्ध ८९) भी कपिराज सुग्रीव राम-स्तुति करते हुए नानात्व (अनेकता) में कालकृत भय बतला एकताको ही अभयपद मान रहे हैं। यथा—

(ख) यावन्नानात्वमज्ञानात्तावत्कालकृतं भयम्।

'जहाँतक अज्ञानजनित एकता है वहाँतक कालकृत भय है।'

निःसन्देह सत्यधाम अभयपदके यात्रीके लिये यहाँतक दिया हुआ पाथेय ही पर्याप्त है। सबका सार यह निकला कि उपनिषदोंके समान पुराण भी किसी प्रकारका द्वैत नहीं सह सकते। सहनशील पाठक पुराणोंकी इस असहन-शीलताको क्षमा करें।

अद्वैतवाद सर्व-मान्य है या होना चाहिये।

न केवल पुराणोंका किन्तु समस्त शास्त्रों और शास्त्रज्ञोंका इस विषयमें एकमत है कि मुक्तियाँ क्रमशः चार प्रकारकी होती हैं जो पद्मपुराणके निम्नलिखित श्लोक-से विदित होती हैं—

काश्यां मृतस्तु सालोक्यं साक्षात्प्राप्नोति सत्तमः।
ततः सरूपतां याति ततः सान्निध्यमश्नुते।
ततो ब्रह्मैकतां याति न परावर्तते पुनः॥

अर्थात् 'काशीमें देह-त्याग करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष साक्षात् सालोक्य-मुक्तिको प्राप्त करता है, तत्पश्चात् सारूप्य और सामीप्य-मुक्तियोंको। अन्तमें ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणा कैवल्यमुक्तिको प्राप्तकर आवागमनरहित हो जाता है।' इसीलिये मुक्तिकोपनिषद्‌में भगवान् रामने स्पष्ट कह दिया है—

कैवल्यमुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी।
× × × ×
अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमार्गेणोक्ता॥

'कैवल्यमुक्ति ही परमकल्याणरूपिणी है जो ज्ञानमार्गसे (प्राप्य) कही गयी है।'

उक्त तीनों गौण मुक्तियोंमेंसे होता हुआ जीवात्मा कैवल्यमुक्तिके पहले परमात्मासे परम तुल्यता (extreme sameness) का अनुभव करता है। केवल अद्वैतज्ञान ही कैवल्यमुक्तिका अनुभव कराता है या अनुभवस्वरूप है क्योंकि 'केवल' शब्द ही 'एक' का द्योतक है। यदि कैवल्यमुक्तिमें किसी भी प्रकारका द्वैत सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाय तो साधनावस्थामें पूर्वकथित प्रमाणोंसे विरोध आता है जो भक्तिसे ज्ञानकी उत्पत्ति बतलाते हैं और सिद्धावस्थामें 'सदाशिवोऽहम्', 'द्वैतं न सहते क्वचित्' इत्यादि प्रमाणोंसे।

इसके सिवा द्वैतको सहन न कर सकनेवाले पुराणोंमें अद्वैतवादका न केवल वर्णन आया है किन्तु 'अद्वैत' शब्द भी बारंबार आया है। ऐसी स्थितिमें 'एक' का अर्थ किसी भी प्रकार 'दो' करना युक्तियुक्त न होगा। इसके भी सिवा यद्यपि 'वेद' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' है तो भी वेदोंका विभाग-क्रम (कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड) यह बतलाता है कि ज्ञानकाण्डका ज्ञान विशेष ज्ञान, विज्ञान या अद्वैतज्ञान है।

सबका सार यही निकला कि उक्त चार प्रकारकी मुक्तियोंको माननेवाले समस्त शास्त्रों और शास्त्रज्ञोंको अद्वैत-वाद मान्य है या होना चाहिये, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गयी।

(क्रमशः)

कल्याण-भावना

[वसन्ततिलका-वृत्त]

(१)

कल्याण-भाव धर ईश ! तुझे नमूँ मैं,
तेरी अपार महिमा सब ठौर राजै ।
देवाधिदेव ! अज और अनन्त है तू,
सारा त्रिलोक दिखता तुझमें पड़ा-सा ।

(२)

आलोकमान नभ जीवन-दान-दाता,
तू व्याप्त है सब कहीं विमल प्रभासे ,
ये साधु-चित्त-खग हैं उड़ते तुझीमें,
है छा रही जगत पै तव दिव्य छाया ।

(३)

हे नाथ ! जोड़कर हाथ पुकारता मैं,
तेरी कृपा मधुर ही बल, ज़ोर मेरा ।
माँगूँ न देव ! सुख किन्तु समत्व माँगूँ,
चाहूँ न भोग भवके, भव-नाश चाहूँ ।

(४)

देखूँ न दर्पयुत हो अपने गुणोंको,
निन्दार्थ दोष परके लख ना सकूँ मैं ।
शोभा लखूँ न कमला ललना-तनूकी,
अन्धा बना नयनसे इतना मुझे तू ।

(५)

देखूँ सदा विमल प्रेम विरोधियोंमें,
सौन्दर्य या दुख छिपे न कभी हियोंका ।
आकाश भेदकर सत्य तुझे लखूँ मैं,
मेरे बना नयनको बलवान ऐसे ।

(६)

गाऊँ न कीर्ति अपनी, परको न निंदूँ,
बोलूँ बुरे दुखद शब्द न शत्रुसे भी ।
भाषूँ न झूँठ यदि सम्पद भी दिलावे,
ऐसी महेश ! बन जाय जबान गूँगी ।

(७)

लावे सुपंथपर जो सब प्राणियोंको,
जो कष्ट नष्ट करती, हरती विरोध ,
जो स्पष्ट, मिष्ट, मित, प्रेमभरी, खरी हो,
ऐसी अमोघ कर दे बलवान वाणी ।

(८)

ना न्याय और श्रमसे जिसको कमाया,
पाया जिसे दिल दुखा करके किसीका ,
स्वादिष्ट हो वह, चखे उसको न तो भी,
ऐसी अशक्त रसना बन जाय मेरी ।

(९)

आहार जो कुछ मिले निरदोष सादा,
सन्तोषसे चख सके उसको सदा जो ,
दे धर्म-हेतु बल भूख-प्रमाण खाके,
हो शक्तियुक्त रसना बस नाथ ! ऐसी ।

(१०)

दुर्गन्ध है जगत माँहि, सुगन्ध भी है,
हैं ये सभी क्षणिक, दूषित, मोहकारी ।
सूँघे न ग्लानि अथवा रुचिसे इन्हें जो,
ऐसी अशक्त मम घ्राण बना विभो ! तू ।

(११)

प्रेमी बना तव पदाम्बुज-गन्धहीका,
निर्गन्ध-जन्य सुख आत्मिकको दिलावे।
हे इन्द्र-भृङ्गगण-सेवित ! गन्ध-ज्ञाता !
हो घ्राण-शक्ति इतनी बलवान मेरी।

(१२)

ईर्ष्यालु, दुष्ट, पर-निन्दकको सुनूँ ना,
ना कान दूँ कुटिल, गर्वितकी गिरापै।
मीठे अनीतिमय बैन न दे सुनाई,
ऐसी विभो ! बधिरता मुझको सदा दे।

(१३)

सत्‌शास्त्रके वचन जो उरमें उतारे,
वाणी सुने सुजनकी, मम दोष जाने,
तेरे सुने भजन भक्ति-सुधा-सने जो,
ऐसे बना श्रवण सार्थक नाथ मेरे।

(१४)

छूवे न वित्त वनिता-तन वासनासे,
छूवे न शस्त्र कछु हिंसक भावनासे,
जाने न दुःख-सुख कर्कश आदि छूके।
हो स्पर्श-शक्ति बलहीन महेश ! ऐसी।

(१५)

माने न दुःख कुछ कंटक अग्नि छूके,
छूवे मलीन तन सन्त दुखी जनोंका,
छूती रहे तव पदाम्बुजको सदा ही,
हो स्पर्श-शक्ति तनकी मम नाथ ! ऐसी।

(१६)

कीड़ा बनूँ विषय-पंक घिनावनेका,
स्वार्थी गुलाम बन श्वान समान जीऊँ,
नीचा गिरूँ अधिक ही भव-कूपमें, हा !
होवे न जीवन कभी मम नाथ ! ऐसा।

(१७)

पाऊँ सदा सुजन-संगति, साधु-सेवा,
चारित्र्य उच्च कर उच्च बनूँ सुरोंसे,
निष्काम दुर्धर धरूँ तप मुक्ति-दाता,
पाऊँ महाफल यही नर-देहका मैं।

(१८)

चाहूँ न रेशम, न दास, न पुष्पमाला,
प्यारे न रत्नमय भूषण भी मुझे हों।
प्रासाद, वाहन, सिँहासन भी रुचै ना,
शोभा न भौतिक विभो ! परकीय माँगूँ।

(१९)

शृंगार हों विनय संयमके दयाके,
ज्ञानादि आत्मिक गुणावलियाँ धरूँ मैं।
आत्मा बने भवन, आत्मिक राज्य पाऊँ,
ऐसी अलौकिक बने मम देव ! शोभा।

(२०)

निन्दा सहूँ गरल, दारिद-दाह, बाधा,
गोले सहूँ, खड्ग-चोट, कृतघ्नता भी,
पीड़ा, क्षुधादि, विरहानल, शीत, गर्मी,
तेरी कृपावश सहूँ इनको खुशीसे।

(२१)

अन्याय ना सह सकूँ पर पै प्रभो ! मैं,
आपत्ति देख सच पै चुप ना रहूँ मैं,
न आत्मका पतन पातकसे सहूँ मैं,
ऐसी बना सहन-शक्ति महेश ! मेरी।

(२२)

मैं भेड़-सदृश बनूँ गुरुके समीप,
आँसू रुकै न मम देख दुखीजनोंको,
पीड़ूँ न चित्त तनसे वचसे किसीको,
ऐसा महेश ! कर कायर भी मुझे तू।

(२३)

ले प्रेम-खंग अपना रिपुता बिनासूँ,
साधूँ स्वकाज कर दूर हजार बाधा,
न्यौतूँ विपत्ति-दलको, डरको डराऊँ,
हो स्वावलम्बन सुसाहस ईश ! ऐसा ।

(२४)

जो देश, जाति, कुल, बांधवसे बँधा हो,
जो हो दुखान्त, चल, चंचल-वस्तु-जात,
जो क्रोध, लोभ जनकै खुदको भुला दे,
ऐसा न प्रेम अपुनीत करूँ प्रभो ! मैं ।

(२५)

उत्पत्ति स्वार्थ-विषसे जिसकी नहीं है,
मोहे न चित्त, धरता स्थिरता धरा-सी,
आकाश-सा विमल दिव्य असीम जो है,
हो प्रेम नाथ ! इस भाँति अनन्त मेरा ।

(२६)

हो दीन-बन्धु अभिमान करूँ कभी ना,
हो भक्ति-भाव तुझमें दृढ़ ज्यों सुमेरू,
निःस्वार्थ सेवक बनूँ सब विश्वहीका,
ऐसा सदा नत रहूँ यह ईश ! माँगूँ ।

(२७)

ऐश्वर्य तुच्छ समझूँ, प्रभुता घिनाऊँ,
सद्ज्ञान-दीप्त सुविचार-सुमेरु पै मैं—
ऊँचा चढ़ूँ, बन सकूँ सम ठीक तेरे,
चाहूँ महेश ! बनना इतना बड़ा मैं ।

(२८)

भूलूँ तुरन्त हित जो परका करूँ मैं,
रक्खूँ न याद निज हानि हुई किसीसे,
न्यायार्थ नाथ ! सब लौकिक स्वार्थ भूलूँ,
ऐसा भुलक्कड़ बना मुझको विभो ! तू ।

(२९)

भूलूँ न पाप अपने, परकी भलाई,
निःसारता, अथिरता जगकी न भूलूँ,
कर्तव्य, शास्त्र, गुरु-सीख रखूँ हियेमें,
ऐसी बना स्मरण-शक्ति महेश ! मेरी ।

(३०)

संसारके विषय मैं विष घोर मानूँ,
जानूँ न भेद सुख-दुःख, रिपू-सखामें,
स्वर्गीय भोग-सुख छोड़ भजूँ दुखोंको,
ऐसा विचित्र कर पागल भी मुझे तू ।

(३१)

है देह भिन्न मुझसे यह जान लूँ मैं,
निन्दा तथा सुयश-बन्धनमें पड़ूँ ना,
निर्लिप्त हो कमल-सा जगमें रहूँ मैं,
ऐसा प्रवीण मुझ मानवको बना दे ।

(३२)

सारांश है यह कि पाप करूँ नहीं मैं,
तृष्णा असत्य इनसे डरता रहूँ मैं,
तेरे विरुद्ध चलना स्वविनाश मानूँ,
ऐसी प्रभो ! निबलता मुझको सदा दे ।

(३३)

सम्पूर्ण इन्द्रिय कषाय सपक्ष जीतूँ,
खोऊँ न शान्ति, विचलूँ सुख-दुःखसे न,
पाके स्वबोध-असिको भव-पाश काटूँ,
ऐसा मुझे प्रबल तू कर चन्द्र-नाथ !

सच्चा वीर

(१)

दुख-क्षुब्ध जीवन-अब्धिमें छोड़े, न जो मुसकानको ।
सुखमें न भूले भाग्य-छलको, मौतके तूफानको ॥
मन-इन्द्रियाँ रखता सदा जो, आत्मके अधिकारमें ।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसारमें ॥

(२)

निज ज्ञानको जिसने न बेचा, स्वर्णके बाजारमें।
जिसकी रमी है बुद्धि केवल मुक्तिके सुविचारमें॥
जो मानता है स्वार्थ अपना, अन्यके उपकारमें।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसारमें॥

(३)

अभिलाष जिस नर-जन्मकी, सुर-वृन्द भी करते सभी।
उसको विनश्वर वस्तुओंमें, जो न खोता है कभी॥
अमरेन्द्रसे जो है बड़ा, सद्ज्ञानयुत आचारमें।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसारमें॥

(४)

जो ना बनाता दास परको, ना किसीका दास है।
है प्रेम जिसका अपरिमित, अविकार ज्यों आकाश है॥
आनन्दको जो खोजता है, आत्मके भण्डारमें।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसारमें॥

(५)

जिसकी अपावन देह, पावन दीन-सेवासे बनी।
हितकर मधुर जिसकी गिरा है, प्रेम-अमृतसे सनी॥
मन, वच, करम हैं एक जिसके, सत्यके दरबारमें।
वह वीरवर आदर्श नर है, धन्य है संसारमें॥

—ताराचन्द पाँड्या

प्रयाग-पञ्चक्रोशीकी परिक्रमा

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

स घोर कलिकालमें भगवत्-प्राप्तिके प्रायः सभी प्राचीन वैदिक साधन लुप्त-से ही हो गये। अब न तो कोई वेदोंका यथार्थ अध्ययन ही करता है और न वेदोंमें कथित यज्ञ-यागोंका ही अब प्रचार रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रायः नामधारी रह गये हैं। समयके प्रभावसे प्रायः सभी क्रियाहीन, श्रीहीन और आचारहीन हो गये हैं। कर्मकाण्डकी प्रथा लुप्तप्राय हो गयी है। घृत, दुग्ध तथा अन्य सामग्रियाँ भी शुद्ध नहीं मिलतीं। योग-साधनके जाननेवाले मिलते ही नहीं। प्राणायाम करनेयोग्य हमारा ब्रह्मचर्य ही नहीं रहा। ऐसी दशामें भगवत्-प्राप्ति कैसे हो? क्या इस समयके लिये उन साधनोंसे पृथक् कोई सुलभ, सरल और सर्वोपयोगी कोई साधन नहीं है? शास्त्रोंमें कहा है—हाँ, ऐसे भी सुलभ साधन हैं, जिनसे सांख्य, योग और कर्मकाण्डके बिना भी भगवत्-प्राप्ति या मुक्ति हो सकती है। वे मुख्यतया ये दो साधन हैं—

इत्यादिदोषविध्वस्तबुद्धीनां वै कलौ युगे।
तीर्थयात्रा हरेर्नाम स्मरणं तारकं मतम्॥

इस अनेक दोषोंसे युक्त घोर कलिकालमें तीर्थयात्रा और भगवन्नाम-संकीर्तन—ये ही दो सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। श्रद्धापूर्वक तीर्थ-सेवन करो। भक्तिभावसे या जैसे बन सके वैसे भगवन्नामका स्मरण, कीर्तन और श्रवण करो। तुम संसारसागरसे पार हो जाओगे। तुम्हें वही गति प्राप्त हो जायगी, जो हजारों वर्षके निराहार तपसे अथवा राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंसे प्राप्त होती थी। यही क्यों, उनका फल तो कभी-न-कभी नाश भी हो जानेवाला है, किन्तु भगवन्नाम-कीर्तन और तीर्थ-सेवनका फल तो अक्षय है। इसलिये सब प्रकारसे तीर्थ-सेवा और भगवन्नाम-जप करना चाहिये।

तीर्थोंकी साङ्गता

शास्त्रकारोंने तीर्थयात्राके पाँच अङ्ग बताये हैं—स्नान, दान, ब्रह्मभोज, उपवास और परिक्रमा। इनके अतिरिक्त किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रोंमें किसी-किसी क्रियाका विशेष माहात्म्य है—जैसे गयाजीमें श्राद्ध, प्रयागमें मुण्डन, जगन्नाथजीमें चावलका प्रसाद आदि-आदि। दानका वैसे तो कलियुगमें सभी जगह माहात्म्य है। दानके सहारे ही कलियुगमें धर्म टिका हुआ है; किन्तु तीर्थक्षेत्रोंमें इसका माहात्म्य विशेष है। इसी प्रकार स्नान, ब्रह्मभोज और परिक्रमाका भी माहात्म्य अन्य स्थानोंकी अपेक्षा तीर्थमें विशेष है। धर्ममें

श्रद्धा रखनेवाले हिन्दू अब भी यथाशक्ति तीर्थोंमें जाकर इन कार्योंको करते हैं।

तीर्थोंके राजा प्रयागराज

जो जडवादके उपासक हैं और इन पञ्चभूतोंके पदार्थोंको ही सत्य मानते तथा चर्म-चक्षुओंसे देखी जानेवाली चीजोंको ही प्रमाण मानते हैं, वे शास्त्रोंकी आधिदैविक और आध्यात्मिक बातोंको क्यों मानने लगे। उनके लिये तो जैसी ही प्रयागकी भूमि, वैसी ही अन्य स्थानोंकी। जैसा जाह्नवी-जल, वैसा ही अन्य जल। उन भाइयोंसे हमें कुछ कहना नहीं है। किन्तु जो धर्ममें विश्वास रखते हैं, शास्त्रवाक्योंको प्रमाण मानते हैं, उनसे हमें कहना है कि तीर्थ निर्जीव या काल्पनिक वस्तु नहीं हैं। वे सजीव हैं, सशरीर हैं और पापोंके नाश करनेकी उनमें शक्ति है। पुराणोंमें जहाँ-जहाँ भी ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन आया है वहाँ अयोध्या, मथुरा आदि पुण्यप्रद पुरियों; गंगा, यमुना आदि परम पवित्र नदियों और प्रयाग, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थोंका वहाँ सशरीर उपस्थित होना बताया गया है। ये सभी सदा लोकपितामह ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं। शास्त्रकारोंकी ऐसी मान्यता है कि यह चराचर विश्व एक नियमित शासनके आधारपर चल रहा है। सभी जातिके प्राणियोंमें एक समर्थवान् पुरुष होता है, उसे उस जातिका राजा कहते हैं। कीट, पतङ्गसे लेकर देवताओंतकके राजा होते हैं। देवताओंके राजा तो इन्द्र प्रसिद्ध ही हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थोंके राजा प्रयागराज हैं। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारका—ये सात पवित्र पुरियाँ इन प्रयागराजकी पटरानियाँ हैं। इनमें काशी सबसे बड़ी पटरानी बतायी गयी हैं। इसी आशयका पद्मपुराणमें यह श्लोक है—

> पुर्यः सप्त प्रसिद्धाः पतिवचनकरी-
> तीर्थराजस्य नार्यो
> नैका स्यान्मुक्तिदाने प्रभवति सुगुणा
> काश्यते ब्रह्म यस्याम्।
> सेयं राज्ञी प्रधाना प्रियवचनकरी
> मुक्तिदानेन युक्ता
> येन ब्रह्माण्डमध्ये स जयति सुतरां
> तीर्थराजः प्रयागः॥

प्रयागको प्रजापति-क्षेत्र कहते हैं। ब्रह्माजीने यहीं तप किया था और अनेकों यज्ञ किये थे। इसी कारण इसका नाम प्रयाग पड़ा। यहाँ गङ्गा-यमुना और सरस्वतीका सङ्गम है। शास्त्रकारोंने इसे पृथिवीकी जङ्घा माना है। महाप्रलयमें भी नाश न होनेवाला अक्षयवट यहीं है। महाप्रलयमें बालमुकुन्द भगवान् इसी वटवृक्षके पत्तोंपर पैरके अँगूठेको मुँहमें देकर क्रीड़ा करते रहते हैं। प्रयाग, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) और अलर्कपुर (अरैल) को मार्कण्डेयजीने मत्स्यपुराणमें गार्हपत्याग्नि, आहवनीय और दक्षिणाग्नि माना है। सभी तीर्थ इस क्षेत्रमें आकर निवास करते हैं। आठों लोकपाल, सातों ऋषि, साध्य, यक्ष, गन्धर्व, अप्सरा, देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा समस्त ऋषि-महर्षि तीर्थराज प्रयागकी आराधना करते हैं। साठ करोड़से भी अधिक तीर्थोंका निवास प्रयागराजकी सन्निधिमें बताया जाता है। यहाँ पापोंके प्रायश्चित्त-स्वरूप या स्वर्गकी प्राप्तिके लिये प्राण त्यागनेकी प्रथा प्राचीन थी। यहाँ हठसे भी प्राण त्यागनेमें पाप नहीं माना जाता था। हैहयवंशीय महाराज गांगेयदेवने, कुमारिल भट्ट-जैसे वैदिकधर्मप्रवर्तक ऋषिने, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव-जैसे अवतारी पुरुषोंके माता-पिताओंने तथा असंख्यों धर्मभीरु पुरुषोंने हँसते-हँसते वटमूलमें अपने प्यारे प्राणोंको त्यागकर लोकपावनी त्रिवेणीके पावन प्रवाहमें प्रसन्नतापूर्वक प्रवाहित कर दिया। यह अविनाशी क्षेत्र है, तीर्थोंका शिरोमणि है, तीर्थोंका भी तीर्थ है, पवित्रोंको भी पावन करनेवाला है और बिना सांख्य, योग और यज्ञ-यागोंके मुक्ति देनेवाला है। अबतक भी प्रति वर्ष महीने-डेढ़ महीनेका मकरका मेला यहाँ होता है। धर्मभीरु हजारों आस्तिक हिन्दू घोर शीतकालके समयमें गङ्गा-यमुनाकी बर्फके समान शीतल बालुकामें फूसकी कुटिया बनाकर मकरभर एक मास कल्पवास करते हैं, और यथाशक्ति दान, पुण्य, ब्रह्मभोज, स्नान, उपवासादि भी करते हैं, किन्तु पञ्चक्रोशीकी प्रथा प्रायः लुप्त-सी ही हो गयी है। इस कारण बहुत-से तीर्थ भी लुप्त हो गये हैं। जैसे नैमिषारण्य, काशीकी पञ्चक्रोशी, चित्रकूटकी परिक्रमा, व्रजकी चौरासी कोसकी परिक्रमा होती है, उसी प्रकार पहले यहाँकी भी परिक्रमा होती रही होगी। किन्तु अब तो यह प्रथा बहुत कालसे लुप्त हो गयी है। सभी

तीर्थोंके एकमात्र वन्दनीय और पूजनीय राजाकी परिक्रमा-प्रथा लुप्त हो जाना हम आस्तिक हिन्दुओंके लिये बड़ी ही लज्जा और दुःखकी बात है । मैं बहुत दिनोंसे पुराणोंका स्वाध्याय बड़े मनोयोगसे कर रहा हूँ। जहाँ-जहाँ पुराणोंमें तीर्थोंका प्रसङ्ग आया है वहाँ-वहाँ तीर्थराज प्रयागकी सबसे अधिक प्रशंसा की गयी है। प्रायः सभी पुराणोंमें प्रयागकी सर्वश्रेष्ठताका वर्णन है। इधर प्रयाग-माहात्म्य लिखनेके लिये प्रेम-विद्यालयके सञ्चालकोंने मेरा ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसीके लिये मुझे बहुत-से प्रयाग-माहात्म्य पढ़ने पड़े । तभी प्रयाग-पञ्चक्रोशीके पथके अन्वेषणकी जिज्ञासा हुई । जहाँ-जहाँ पता चला, वहाँ-वहाँ जाकर, साधु-महात्माओंसे पूछकर, शताध्यायी तथा अन्य माहात्म्योंको मिलाकर मैंने एक पञ्चक्रोशीका पथ तैयार किया है। अब उसीके सम्बन्धमें लिखा जाता है।

पञ्चक्रोशीकी परिक्रमा

यह पहले बताया जा चुका है, कि परिक्रमाकी प्रथा सनातन है। जिस क्षेत्रकी जितनी सीमा मानी जाती है, उसके चारों ओर घूमनेका नाम प्रदक्षिणा या परिक्रमा है। व्रजमण्डलको चौरासी कोसका बताते हैं। उसकी चौरासी कोसकी परिक्रमा है। इसी प्रकार काशी, कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, अयोध्या, चित्रकूट सभी तीर्थोंकी सीमा है और उनकी उतनी ही बड़ी-छोटी परिक्रमा होती है । प्रयागका नाम प्रजापतिक्षेत्र है। इसकी सीमा युगोंके अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। सत्ययुगमें चारों धाम इसकी सीमा थे। इसी प्रकार त्रेता-द्वापरमें अयोध्या, चित्रकूट, जाजमऊ—ये सभी इस क्षेत्रकी सीमामें ही माने जाते थे। अब कलियुगमें अक्षयवटसे चारों ओर दस-दस कोस, पाँच-पाँच कोस या अढ़ाई-अढ़ाई कोस इस क्षेत्रकी सीमा है। प्रयागकी एक परिक्रमा सवा महीनेकी बतायी जाती है और उसे चौरासी कोसकी बताते हैं।

दुर्वासाः पूर्वभागे निवसति बदरी-
खण्डनाथः प्रतीच्यां
पर्णाशो याम्यभागे धनददिशि तथा
मण्डलेशो मुनीशः।
पञ्चक्रोशे त्रिवेण्याः परित इह सदा
सन्ति सीमान्तभागे
मुक्षेत्रं योजनानां शरमितममितो
मुक्तिमुक्तिप्रदं तत् ॥

अर्थात् पूर्व भागमें पाँच कोसपर दुर्वासामुनि (कँकरा कुटवाके पास) रहते हैं। पश्चिममें पाँच कोस वरखण्डी शिव निवास करते हैं। दक्षिणमें पाँच कोस पर्णास मुनि (पनासाके पास) रहते हैं और वटवृक्षसे पाँच कोस उत्तर मण्डलेश्वरनाथ (पणिला महादेव) निवास करते हैं। हमें तो यह श्लोक मिला नहीं, पता नहीं यह कहाँका है; इससे यही सिद्ध होता है कि प्रयागकी विस्तृत (बहिर्वेदी), मध्यम (मध्यवेदी) और संक्षिप्त (अन्तर्वेदी) ये तीन प्रकारकी परिक्रमा रही होंगी। यहाँपर हम प्रजापतिक्षेत्रकी पञ्चक्रोशी परिक्रमापर ही विचार करना चाहते हैं, जिसकी सीमा पुराणोंमें स्पष्ट बाँधी गयी है। जहाँतक प्रसिद्ध तीर्थ गिनाये गये हों वही असली पञ्चक्रोशीकी सीमा और परिक्रमा मानी जा सकती है। अब इसी बातपर विचार किया जायगा।

पञ्चक्रोशी परिक्रमाकी सीमाके साधन

परिक्रमा आदि धार्मिक रूढ़ियोंका सर्वोत्कृष्ट साधन तो परम्परासे चली आयी प्रचलित रूढ़ि ही है। बहुत सम्भव है, कमी-कमी रूढ़ियोंका विकृतरूप होकर कुछ-से-कुछ बन जाता है। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार-पर उसकी यथार्थता सहजमें ही समझ लेते हैं। दुःख है कि आजकल प्राचीन रूढ़ियोंको ही मिटा देनेकी प्रवृत्ति लोगोंमें उठ रही है। कुछ भी हो, धर्म-प्राण हिन्दू-जाति किसी-न-किसी रूपमें अपनी परम्पराको अब भी थोड़ी-बहुत बनाये ही हुए है। कुम्भ आदि पुण्य-पर्वोंपर सभी सम्प्रदायोंके लाखों पुरुष माता जाह्नवीके तटपर धर्मके झण्डेके नीचे इकट्ठे हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य तीर्थोंकी भी मर्यादा किसी-न-किसी अंशमें विद्यमान है। किन्तु प्रयाग-पञ्चक्रोशीकी प्रथा लुप्तप्राय हो गयी है, अतः लोगोंको पञ्चक्रोशीका नाम तो याद है और अब भी मुख्य-मुख्य स्थानोंके दर्शन करके लोग कहते हैं कि हमने पञ्चक्रोशी कर ली, किन्तु यथार्थमें परिक्रमा अब कोई नहीं देते। हाँ, कार्तिकमें अक्षय नौमीको एक दिनकी परिक्रमा अब भी कुछ लोग देते हैं। मैंने लोगोंसे पञ्चक्रोशी परिक्रमाका पथ बहुत पूछा, किन्तु ठीक-ठीक किसीने नहीं बताया। सभीने अपना अनुमान दौड़ाकर हमें रास्ता बता दिया। अतः

परिपाटी लुप्त-सी हो जानेके कारण परम्परागत परिक्रमा-पथ तो अब रहा नहीं ।

एक बात और ध्यानमें रखनेकी है- कि प्रयाग-पञ्चक्रोशीकी परिक्रमा अन्य तीर्थोंसे भिन्न है। इसमें गंगा, यमुना और मिश्रित संगम इसप्रकार तीनोंके छः तट हैं। इन छहोंके किनारे तीर्थ हैं। परिक्रमामें ये तट छूटने न पावें और कहीं नदीको पारकर नद्यन्तर भी न हो। अतएव परिक्रमाके सम्बन्धमें इतनी बातें आवश्यक हैं।

(१) तीनों अग्निस्वरूप प्रतिष्ठानपुर (झूसी), अलर्कपुर (अरैल) और प्रयागकी परिक्रमा हो जाय।

(२) छः तटोंके कोई भी प्रधान तीर्थ न छूटने पावें।

(३) प्रयागके अष्टनायक—त्रिवेणी, माधव, सोम, भारद्वाज, वासुकी, अक्षयवट, शेष और प्रयाग—ये परिक्रमामें आ जायँ।

(४) पुराणोंमें जो प्रजापतिक्षेत्रकी सीमा बाँधी गयी है वहाँसे आगे न जाया जाय।

(५) जिस दिशामें जहाँ जाकर तीर्थोंके कथनका अन्त कर दिया हो, उसीको निश्चित सीमा माना जाय।

(६) वेणीमाधव (संगम) को छोड़कर कहीं भी नदीको पार न किया जाय।

(७) परिक्रमा सीधी दक्षिणावर्त हो जाय।

इन सातों बातोंका जिसमें पालन हो जाय वही यथार्थ, निश्चित और प्रामाणिक पञ्चक्रोशीका पथ निश्चित कर दिया जाय। इसी बातपर अब विचार करना है। पहले पुराणोंसे यह निश्चय करना है कि उन्होंने प्रजापतिक्षेत्रकी सीमा कहाँ-तक बतायी है। मत्स्यपुराणको द्वादशाध्यायीमें लिखा है—

आप्रयागप्रतिष्ठानात् पुरो वै वासुकेर्ह्रदात्।
कम्बलाश्वतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः॥
एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
अत्र स्नाता दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः॥

अर्थात् प्रयागप्रतिष्ठान (झूसी) से लेकर वासुकी तालाबसे आगेतक और कम्बलाश्वतर तथा नाग (तीर्थ) और बहुमूलक—इनके बीचमें जो भूमि है वही प्रजापति-क्षेत्र है और तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। इस बीचमें जो स्नान करते हैं वे स्वर्गको जाते हैं और जो मर जाते हैं वे फिर जन्म ग्रहण नहीं करते। ये ही श्लोक प्रयाग-माहात्म्य शताध्यायीमें यों लिखे हैं—

आप्रयागप्रतिष्ठानाद् यत्पुरो वासुकेर्ह्रदात्।
कम्बलाश्वतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः॥
एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
यत्र स्थिता न तप्यन्ते जना मृत्युदवाग्निना॥

दोनोंका भाव एक ही है। बहुत-से लोग नागको अलग न मानकर बहुमूलक नाग ऐसा अर्थ करते हैं। प्रयाग-पञ्चक्रोशीकी सं० १९४३ की छपी एक चौरासी कोसकी पुस्तकमें लवाइन गाँवमें बहुमूलक नागका स्थान लिखा है, वह एकदम अशुद्ध है; पता नहीं उस पुस्तकमें किस ग्रन्थके आधारपर अनेक ग्रामोंमें तीर्थोंके नाम गिनाये गये हैं और उनका प्रमाण भी धनुष और कोसोंमें लिखा है। उसकी एक भी बात शताध्यायीसे ठीक-ठीक नहीं मिलती। अतः उसे तो हम एकदम प्रामाणिक नहीं समझते। असलमें इस श्लोकमें 'च' करके नागको बिल्कुल अलग कर दिया है। हमारी इस बातकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि शताध्यायीमें गगाजीके उत्तर-तटके तीर्थोंमें सबसे अन्तमें नागतीर्थका ही वर्णन किया है। जैसा कि इस श्लोकमें है—

तस्यैवाग्नेयदिग्भागे प्रान्तवेण्या उदक्तटे।
वर्तते नागतीर्थं हि नागनागगणैर्युतम्॥

अर्थात् व्यासाश्रम (अकेला पाठशाला) से अग्निकोणमें, त्रिवेणीके उस पार उत्तर-तटतर नागनामक तीर्थ है। वहाँ नागोंके भी नाग अपने गणोंके साथ रहते हैं। वहाँ अब भी नागेश्वरनाथजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। फिर इसके बाद शेषजीने दक्षिणमें बहिर्वेदीके किसी भी तीर्थका वर्णन नहीं किया है। उससे आगे कह दिया है—

तस्यास्य तीर्थराजस्य ब्रह्मपुत्रा भवत्कृते।
वेदीनां त्रितयं प्रोक्तं किमन्यत् श्रोतुमिच्छथ॥

अर्थात् 'आप लोगोंके पूछनेपर मैंने अन्तर्वेदी, मध्यवेदी और बहिर्वेदीके तीर्थोंका वर्णन किया। अब आप लोग और क्या सुनना चाहते हैं?' इस बातसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नागतीर्थ दक्षिण-दिशाकी सीमा है और इस श्लोकमें प्रजापतिक्षेत्र अथवा त्रिवेणीक्षेत्रकी सीमा ही बतायी जा रही है। इससे नाग कहनेसे उनका मतलब नागतीर्थ या नागेश्वरनाथसे ही है।

अब फिर सोचना है कि तत्र बहुमूलकका क्या अर्थ है। बहुमूलक किस दिशाकी सीमापर है। बहुमूलक शब्दके मानी हैं, बहुत मूलवाला। नामकोषमें वटवृक्षको भी बहुमूलक कहा है, किन्तु यहाँ तो प्रजापतिक्षेत्रकी अवधि बता रहे हैं। अतः बहुमूलक कोई वटके अतिरिक्त दूसरा ही तीर्थ होना चाहिये, जो सीमाके सम्बन्धमें भी ठीक बैठे। लवाइनमें बहुमूलकका स्थान हो नहीं सकता, क्योंकि यह ठीक दक्षिणमें है और शताध्यायीमें स्पष्ट लिखा है—

ततो धनदद्दिग्भागे विदूरे बहुमूलकः।
नागस्तु वर्तते तीर्थावधिस्तम्भधरः परः॥

अर्थात् कुबेरकी उत्तर-दिशामें थोड़ी दूरपर बहुमूलक नामका नाग है, वही तीर्थकी अवधिका स्तम्भरूप है। उत्तर-दिशामें हो और वासुकी ह्रदके आगे हो वही बहुमूलक नाग है। भोगवतीसे आगे उत्तरमें शेषनागजीका स्थान है और सहस्रफण होनेके कारण उनका नाम बहुमूलक भी है। अतः उत्तर-दिशाके वे ही स्तम्भ हैं, क्योंकि शताध्यायीमें और मत्स्यपुराणकी द्वादशाध्यायीमें भी शेषनागके स्थानसे आगे कोटितीर्थ (शिवकोटि) का वर्णन है। अतः शिवकोटितक हमें बहुमूलक स्थानकी सीमा समझनी चाहिये। क्योंकि मार्कण्डेयजी प्रजापति-क्षेत्रके तीर्थोंका ही वर्णन करते हैं और वहाँ स्पष्ट कहते हैं—

कोटितीर्थं समासाद्य यस्तु प्राणान् परित्यजेत्।
कोटिवर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥

अर्थात् कोटितीर्थमें जाकर जो प्राणोंको छोड़ देता है, वह करोड़ों वर्ष जाकर स्वर्गमें सुख भोगता है। शताध्यायीमें भी बहुमूलक नागके पूर्व गालव, मार्गव और चामर आश्रमोंका वर्णन करनेके अनन्तर कहा है—

कोटितीर्थं तु तत्पूर्वे गङ्गाया दक्षिणे तटे।
वर्तते परमस्थानं कोटितीर्थफलप्रदम्॥

अर्थात् इन उत्तरके आश्रमोंसे पूर्व तरफ गङ्गाजीके दक्षिण-तटपर कोटितीर्थोंके फलोंको देनेवाला कोटितीर्थ है। इन सभी बातोंसे भोगवतीसे आगे शिवकोटितक उत्तरकी सीमा सिद्ध होती है। पश्चिममें कम्बलाश्वतरके सामने (महेवाके पास हिन्दी-विद्यापीठ) अग्निकोणमें गङ्गाके उत्तर-तटमें नागतीर्थ सीमा हुई। क्योंकि गङ्गाजीके इस पार मानसतीर्थ (मनसइता नदीके संगम, सनोटीके पास) तक ही तीर्थोंका वर्णन है। अतः इधरकी सीमा मानसतीर्थ स्वतः ही सिद्ध है। इसप्रकार प्रजापतिक्षेत्र या वेणी-क्षेत्रकी सीमाका एक त्रिभुज बन गया। इधर नागतीर्थ (छतनगासे) सीधा मानसतीर्थ (सलौटी) तक, उधर कोटितीर्थ (शिवकोटि) से सिन्धुसागरतीर्थके सामने (हिन्दी-विद्यापीठ) तक, उधर कम्बलाश्वतरनाग (सैंनी) से लेकर नागेश्वरतक। बस, यही प्रजापतिक्षेत्र है। इसके बीचमें जो भूमि है उसीको वेणीक्षेत्र कहते हैं। इसकी लम्बाई शताध्यायीमें पाँच कोसकी बतायी है—

पञ्चक्रोशात्मकं क्षेत्रं षट्कोणं विश्वतोन्नतम्।
प्रकृष्टं सर्वयागेभ्यस्तुलायामधिरोहतु॥

अर्थात् जब देवता अन्य सभी तीर्थोंको तुलापर रखकर तौल चुके तब शेषजीने कहा—'पाँच कोसवाले विश्वतोन्नत इस छः कोणयुक्त प्रयागक्षेत्रको भी तराजूपर रखिये जो सम्पूर्ण यज्ञोंके द्वारा अति श्रेष्ठ है।' हम समझते हैं, हिन्दी-विद्यापीठसे नागेश्वरनाथ पाँच कोस अवश्य होंगे। और नागेश्वरनाथसे मनसइताके मुहाने (सनौटीके आगे) को तो पाँच कोस होनेमें कोई सन्देह ही नहीं। वहाँसे कँकरहा-घाट छः कोस हो तो कोई सन्देहकी बात नहीं। प्रयाग, अरैल और झूसी इन तीनोंको ही प्रजापतिक्षेत्र या वेणीक्षेत्र कहा है। शताध्यायीमें इन्हें क्रमशः अन्तर्वेदी, मध्यवेदी और बहिर्वेदी माना है। मत्स्यपुराणमें गार्हपत्याग्नि, आहवनीय और दक्षिणाग्नि कहा है। इन तीनोंका क्षेत्रफल बीस कोस माना है, जैसा कि शताध्यायीमें लिखा है—

पञ्चयोजनविस्तीर्णं प्रयागस्य तु मण्डलम्।
प्रविष्टस्यैव तद्भूमावश्वमेधः पदे पदे॥

'यह प्रयागमण्डल पाँच योजन (बीस कोस) में फैला हुआ है। इसकी भूमिमें प्रवेश करनेपर पद-पदपर अश्वमेध-यज्ञका फल होता है।' गङ्गा, यमुना और मिश्रित धाराके छः तट होनेके कारण इन तीनों वेदियोंकी त्रिकोण परिक्रमा होगी। और इसी क्रमसे शताध्यायीमें बताया गया है। परिक्रमा करनेपर बीस कोससे अधिक पड़ेगी भी नहीं।

इन सब प्रमाणोंसे नागेश्वरनाथ, मानसतीर्थ, कम्बलाश्वतरनाग और शिवकोटि—ये ही प्रजापतिक्षेत्रकी सीमा सिद्ध हुई। अब परिक्रमा इस ढङ्गसे बनानी चाहिये कि पुराणोंमें बतायी सीमाका भी उल्लंघन न हो और छहों

तटोंके समस्त प्रसिद्ध तीर्थोंकी परिक्रमा भी हो जाय और साथ ही प्रयाग, अरैल, झूसी इनकी भी प्रदक्षिणा हो जाय । इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए हमने परिक्रमाका पथ यों तैयार किया है ।

परिक्रमाका पथ

पहले दिन त्रिवेणीमें स्नान करके और तन्दुल-पुष्पसे युक्त जलसे तर्पणादि करके, तीनों वेणियोंका पूजन-अर्चन करके यथाशक्ति दक्षिणा देकर, अक्षयवटमें जाना चाहिये । वहाँ अक्षयवटका तथा उनकी सन्निधिमें वास करनेवाले देवता, ऋषियोंका पूजन करके यमुना-किनारे घृतकुल्या, मधुकुल्या, निरञ्जनतीर्थ, आदित्यतीर्थ, ऋणमोचनतीर्थ, पापमोचनतीर्थ, रामतीर्थ, सरस्वतीकुण्ड, गोघट्टनतीर्थ, कामेश्वरतीर्थ (मनकामेश्वरनाथ) के दर्शन करते हुए वरुणघाटसे तक्षकेश्वर शिवजीके मन्दिरमें जाना चाहिये । वहाँसे तक्षककुण्ड, कालिय ह्रद, चक्रतीर्थ आदिमें मार्जन-प्रणाम करते हुए सिन्धुसागरतीर्थमें पहुँचना चाहिये । वहाँसे अतरसुइया (अत्रि-अनसूया) को सीधी सड़क गयी है । उससे ललितादेवीके दर्शन करके (अटालेके पूर्व) पाण्डवकूपकी प्रदक्षिणा करते हुए (गढ़ईके सराँय मुहल्लेमें) वरुणकूपके दर्शन करते हुए उधरसे सूर्यकुण्डपर पहुँचना चाहिये । वहाँ प्रणाम करके भरद्वाज-आश्रमपर आना चाहिये । दर्शन करनेके पश्चात् वहीं कहीं रात्रि-निवास करना चाहिये । सबेरे उत्तरकी तरफ़ कुछ दूर जाकर, द्रौपदीघाट होते हुए शिवकोटि पहुँचना चाहिये । वहाँ दर्शन-पूजन करते हुए शेषजी (बलदेवजी) नागवासुकी, भोगवती होते हुए दशाश्वमेघघाटपर आना चाहिये । वहाँ शिवजीके दर्शन करके दारागंजमें वेणीमाधवजीकी प्रदक्षिणा और दर्शन करके यदि दिन रहे तो गङ्गाजीके किनारे-किनारे लक्ष्मीतीर्थ, उर्वशीतीर्थ, सोमदत्त, दुर्वासा आदि तीर्थोंमें आचमन, मार्जन, नमस्कार करके अक्षयवटके नीचे अन्तर्वेदीकी यात्रा समाप्त करनी चाहिये । यदि पहुँच जायँ तो रात्रिभर संगमक्षेत्रमें रह जायँ नहीं तो दारागञ्जमें रात्रि-वास करें ।

तीसरे दिन त्रिवेणी-स्नान, पूजन-संकल्प करके अरैलके आदि वेणीमाधव या विष्णु-माधवके दर्शन करके किनारे-किनारे हनुमान्-कुण्ड, सीता-कुण्ड, वरुण-तीर्थ, यमतीर्थ, चक्रमाधव, वीरतीर्थ, सोमतीर्थ (सोमेश्वरनाथ), सूर्यतीर्थ, कुबेरतीर्थ, वायुतीर्थ और अग्नितीर्थको नमस्कार करते हुए सीधे देवरखमें जाना चाहिये । अधिक देवोंसे रक्षित होनेके कारण इस क्षेत्रको 'देवरक्षक क्षेत्र' कहते होंगे, उसीका अपभ्रंश देवरख हुआ । यहाँ शुद्धाद्वैतके प्रवर्तक आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजी रहते थे । उनके सबसे बड़े पुत्र श्रीगोपीलालजीका जन्म यहीं हुआ था, तथा उनके द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलनाथजीके सात पुत्रोंमेंसे छः का प्राकट्य इसी स्थानपर हुआ था । यहींपर आचार्यदेवने श्रीचैतन्यदेव महाप्रभुको लाकर उनका सत्कार किया था (गौडीय सम्प्रदायके महाप्रभुओंके श्रीचैतन्यदेवकी स्मृतिमें यहाँ अवश्य कुछ बनाना चाहिये) वल्लभकुल सम्प्रदायका यह पूजनीय पीठ है । इसकी प्रदक्षिणा करके नैनीके लिये जो नन्नहन तालाब होकर सीधी सड़क जाती है उसीसे नैनी स्टेशन पहुँचना चाहिये । वहाँसे रेलके इसी पार छेंउकी स्टेशनके उस पार ददरी गाँवमें कम्बलाश्वतर (सैनीदेवीका चबूतरा) की प्रदक्षिणा करके छेंउकी गाँवसे होकर फिर स्टेशन आना चाहिये । वहाँसे सीधे यमुनाजीके किनारे महेवाके पास हिन्दी-विद्यापीठके आसपास कहीं ठहर जाना चाहिये ।

चौथे दिन यमुनाजीके किनारे-किनारे समस्त तीर्थोंको प्रणाम करते हुए शूलटंकेश्वरके समीप अरैलमें आ जाना चाहिये । जिस तटपर जल मिल जाय वहाँ तो आचमन कर ले नहीं तो भक्तिके साथ प्रणाम ही कर लेना चाहिये । शूलटंकेश्वरका पूजन करके त्रिवेणी-स्नान करके मध्यवेदीकी यात्रा समाप्त करनी चाहिये और इस पार झूसीमें आकर रात्रिवास करना चाहिये ।

पाँचवें दिन त्रिवेणी-स्नान करके समुद्रकूप, ऐलतीर्थ (ऐलेश्वरनाथ), नलतीर्थ, सन्ध्यावट, हंसप्रपत्तन, ब्रह्मकुण्ड, शाल्मलीतीर्थ, उर्वशीतीर्थ, अरुन्धतीतीर्थ आदि तीर्थोंमें अर्चन-मार्जन करते हुए बदरासनौटीके पास मनसइता नदीके मुहानेतक जाना चाहिये । वहाँ मानसतीर्थको प्रणाम करके सीधे नागेश्वर—छतनगा पहुँचना चाहिये । वहाँ एक रात्रि निवास करे । छठे दिन गंगाके किनारे-किनारे शङ्खमाधव, व्यासाश्रम आदिमें होते हुए त्रिवेणी-स्नान करके यात्रा समाप्त करनी चाहिये । फिर यथाशक्ति दान, पुण्य, ब्राह्मणभोजन आदि करे । इसप्रकार तीनों वेदियों-की यात्रा समाप्त करे ।

प्रयाग-पञ्चक्रोशी-परिक्रमाका फल

प्रयागमें समस्त तीर्थोंका निवास बताया गया है। महाभारतमें लिखा है—'जिसने प्रयागमें रहकर तीर्थ-सेवन कर लिया उसे अन्य तीर्थोंमें जानेकी आवश्यकता नहीं।' मत्स्यपुराणमें भगवान् मार्कण्डेयजी महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—'राजन्! यह क्षेत्र श्रुतियोंका मूल है, इसकी भूमिमें जितने भी पैर चला जाय उतने ही अश्वमेध-यज्ञोंका फल होता है।' प्रयागकी परिक्रमा करनेसे समस्त तीर्थोंकी परिक्रमाका फल बताया गया है। शताध्यायीमें लिखा है—'जो विधिपूर्वक अन्तर्वेदीकी भी परिक्रमा करता है, उसके ऊपर माधव प्रसन्न होते हैं।' माधवकी प्रसन्नता होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है? श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे शुद्ध-अन्तःकरण होकर जो तीर्थराज प्रयागकी प्रदक्षिणा करते हैं, उन्हें मनोवाञ्छित फलोंकी प्राप्ति होती है। जो सभी कामनाओंसे रहित होकर करते हैं उन्हें माधव अपने चरण-कमलोंकी भक्ति अथवा मुक्ति प्रदान करते हैं। प्रयागमें किये हुए सभी धर्मकार्य अक्षय हो जाते हैं! परिक्रमा-माहात्म्यमें लिखा है—

प्रयागे यत्कृतं पापं सूक्ष्मं तदपि दारुणम्।
वज्रलेपं तदाख्यातं तदप्यत्र विमुच्यते॥
पापं लोका ये प्रयागे प्रकुर्युः
तेषां पापं नित्यशो वृद्धिमेति।
पुण्यं शक्त्या साधवो ये तथैव
तेषां पुण्यं वर्धते ज्ञानकारि॥

'यदि प्रयागमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी पाप किया जाय तो वह वज्रलेप होकर शरीरसे लिपट जाता है, छुटानेसे भी नहीं छूटता। यदि सालमें एक बार प्रदक्षिणा कर ली जाय तो छोटे-मोटे पाप तो प्रदक्षिणासे ही नाश हो जाते हैं। प्रयाग-क्षेत्रमें जो पुण्य करते हैं, उनका पुण्य नित्यप्रति बढ़ता ही जाता है और बढ़ते-बढ़ते अक्षय हो जाता है। इसी प्रकार जो क्षेत्रमें पाप करते हैं उनका पाप भी नित्यप्रति बढ़ता ही जाता है।' इसीलिये प्रयाग-प्रदक्षिणाका इतना फल बताया गया है। शेषजी प्रयागके माहात्म्यको नहीं कह सके। ब्रह्माजीने भी इसके वर्णनको अपनी शक्तिके बाहर कहा है—अतः इस श्लोकको लिखकर हम भी समाप्त करेंगे—

प्रयागयात्रापुण्यानि वक्तुं शक्नोति कः पुमान्।
दिव्यवर्षशतेनापि मादृशेन किमन्यतः॥

अर्थात् 'प्रयागकी यात्राके पुण्यको कौन मनुष्य कहनेमें समर्थ हो सकता है। यदि देवताओंके वर्षोंसे सैकड़ों वर्षों-तक कहते रहें तो भी पूरा न होगा। फिर मुझ-जैसे व्यक्तिकी तो सामर्थ्य ही क्या है?'

अन्तिम निवेदन

प्रयाग तीर्थोंका राजा है, पवित्र और पुण्यदायिनी अयोध्या, मथुरा आदि सप्तपुरियाँ इन तीर्थराजकी पट-रानियाँ बतायी गयी हैं। प्रलयमें भी नाश न होनेवाला अक्षयवट यहीं है। गंगा, यमुना और सरस्वती—इन तीनों जगत्पावनी पुण्यदायिनी सरिताओंका यहाँ संगम है, प्रजापतिका प्यारा यह क्षेत्र है। इसमें किया हुआ पाप तथा पुण्य अक्षय हो जाता है। इसीलिये जो शुद्ध अन्तःकरण-से पापोंको बचाकर यहाँ मकरभर कल्पवास करते हैं उन-का वह पुण्य अक्षय बन जाता है। इस क्षेत्रमें किये हुए थोड़े पुण्यप्रद कार्य भी अनन्त पुण्योंके देनेवाले हो जाते हैं, अतः धर्मप्रेमी समस्त हिन्दू-जातिके महानुभावोंका ध्यान मैं इन बातोंकी ओर आकर्षित करता हूँ—

(१) प्रयागकी पञ्चक्रोशीकी परिक्रमा जो कर सकें किया करें।

(२) इसके लिये लोगोंको उत्साहित करें, उसका माहात्म्य सुनावें।

(३) प्रयाग-यात्रा करनेवालोंकी यथाशक्ति सहायता करें। तीर्थयात्रावालोंके भोजन, जल, निवास तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्रियोंका जो प्रबन्ध करते हैं उन्हें यात्राका चौथाई फल मिलता है। अतः ईश्वरने जिन्हें इस योग्य बनाया है वे यात्रियोंकी हर प्रकारसे सहायता करें।

(४) प्राचीन और जीर्ण हुए मन्दिरों, देवस्थानों और खण्डित प्रतिमाओंका पुनरुद्धार किया जाय।

प्रयागमें वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला, देवमन्दिर और अन्नसत्र बनवानेका बड़ा माहात्म्य बताया है। हम समझते हैं प्राचीन मन्दिरोंके जीर्णोद्धारका पुण्य इनसे भी अधिक होगा। अतः उदार सज्जनोंको इस ओर ध्यान देना चाहिये। अन्तमें प्रयागके मुख्य अष्टनायकोंका स्मरण करके यह वक्तव्य समाप्त किया जाता है।*

त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकिम्।
वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्॥

* इसकी विशेष जानकारीके लिये मेरी लिखी 'प्रयाग-पञ्चक्रोशी-परिक्रमा' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये।

गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद

जिस कर्मयोगको भगवान्‌ने, 'कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' (गीता ५।२) कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बतलाया, जिसके आचरण करनेवालोंके लिये 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' (गीता २।५१) जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय (अमृतमय) परमपदकी प्राप्ति बतलायी, वह गीतोक्त कर्मयोग क्या आधुनिक कर्मवाद ही है ? आजकल जगत्‌के विशिष्ट शिक्षित पुरुष जिस कर्मवादके पीछे पागल हैं, जीवनभरमें कभी जिन्हें इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं मिलती, या जो विचार करना आवश्यक ही नहीं समझते कि 'ईश्वर क्या है, प्रकृति क्या है, जगत्‌का क्या स्वरूप है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं ?' ऐसी बातोंकी कल्पना करना जिनके मन समयका दुरुपयोग करना है और जो रात-दिन केवल भौतिक उन्नतिका आदर्श सामने रखकर ही अपनी, अपनी जातिकी, अपने देशकी और संसारकी भौतिक उन्नतिके लिये, पार्थिव भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये कर्ममें लग रहे हैं। एक मिनिटके लिये भी जिनको कर्मसे अवकाश नहीं है, उनका वह कर्म क्या गीतोक्त कर्मयोग है ? आजकल कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं, या सिद्ध करना चाहते हैं कि गीतामें इसी कर्मयोगकी शिक्षा दी गयी है। इसीलिये वे अपनी या परायी ऐहिक उन्नतिके लिये कामासक्तिपूर्वक अनवरत कर्मप्रवाहमें बहते हुए मनुष्योंको 'कर्मयोगी' की पदवी देते हैं और गीताके श्लोकोंसे इसका समर्थन करना चाहते हैं। अतएव इस विषयपर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है।

आधुनिक कर्मवादका स्वरूप

इस कर्मवादके स्वरूपके सम्बन्धमें नाना मतभेद हैं और इसमें अनेकों प्रकारके परिवर्तन भी हो रहे हैं। इसका उत्तम स्वरूप यह है—

कर्म मनुष्यकी उन्नतिका मूल है, कर्मसे ही मनुष्य अपना, देशका और दीनोंका दुःख दूरकर सबको सुखी बना सकता है, अतएव किसी भी दूसरेपर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्यको निरन्तर कर्ममें ही लगे रहना चाहिये। जगत्‌का सारा दुःख केवल कर्मसे ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले, सबको समानरूपसे भोगपदार्थोंकी प्राप्ति हो, ऐश्वर्य बल विद्या कला विज्ञान आदिकी वृद्धि हो, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसके लिये सबको सब प्रकारसे आलस्य छोड़कर दुःख-कष्टकी परवा न कर, सदा उत्साह और उल्लासपूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। यही मनुष्यका कर्तव्य या धर्म है।

इस कर्तव्यके पालनमें विविध कर्मोंके नानाविध स्वरूप बन गये हैं। कोई कहता है, केवल विज्ञानसे ही सबकी उन्नति हो सकती है। रेल, जहाज, तार, टेलीफोन, बेतारका तार, वायुयान आदि अनेक प्रकारके परम अद्भुत यन्त्र और अन्य आवश्यक चीजें, जिनसे संसारमें सभी क्षेत्रोंमें बहुत कुछ सुभीता हो गया है, विज्ञानका ही फल है; इसके अतिरिक्त रक्षक, संहारक अनेक प्रकारकी चीजें विज्ञानने आविष्कार की हैं, जिनसे हम अपनी रक्षा और विपक्षका संहार सहज ही कर सकते हैं और नाना प्रकारसे सुखोपभोग करते हुए जीवन बिता सकते हैं, अतएव विज्ञानकी उन्नतिके कर्ममें लगे रहना चाहिये।

कोई कहता है, विज्ञानने मनुष्यको आलसी,

विलासी, हिंसक और पक्षपाती बना दिया है। विज्ञानके फलसे ही यन्त्र बने और यन्त्रोंके कारण ही पूँजीवाद और मजदूरवादकी सृष्टि हुई। कुछ लोगोंके पास धन आ गया और शेष जनताका बहुत बड़ा भाग भूखों मरने लगा अतएव विज्ञानकी ओरसे मन हटाकर यन्त्र-सभ्यताका नाशकर ग्राम्य-जीवनको सुधरे हुए आदर्शपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

कोई कहता है कि देशकी रक्षाके लिये कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाकी बड़ी आवश्यकता है, इसलिये इनकी वृद्धिमें लगना चाहिये और कोई इनसे संसारका अमंगल समझकर अधिकाधिक कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाका विरोध करते हैं। कोई साम्राज्यवादी हैं तो कोई प्रजाराज्यवादी। कोई विषमतासे भलाई मानते हैं तो कोई व्यवहारमें पूर्ण समता चाहते हैं।

इसप्रकार नाना रूपोंमें कर्मका आश्रय लेकर आधुनिक जगत् कर्म और कर्मीकी पूजामें लगा है। इन सबके कर्मका स्वरूप कुछ भी हो परन्तु ईश्वर और धर्मकी आवश्यकता इनमेंसे किसीको नहीं है। कहीं अत्यन्त क्षीणरूपमें ईश्वर और धर्मकी बात सुनायी पड़ती है तो वह भी इस ऐहिक उन्नतिके लिये ही; वरं पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त लोगोंमें तो अधिकांश प्रायः यही मानते हैं कि ईश्वर और धर्मकी बात करना या सुनना केवल व्यर्थ ही नहीं है, पतनका कारण है। इन पुराने विश्वासोंको—वहमोंको सर्वथा नष्टकर नवीन युगकी नवीन कल्पनाओंपर ही विश्वास करना चाहिये। इसीलिये आज चारों ओर क्रान्ति और अशान्ति है, एवं इसी क्रान्ति एवं अशान्तिके कार्योंको 'कर्मयोग', और दिन-रात इनमें लगे हुए लोगोंको 'कर्मयोगी' कहा जाता है। यह संक्षेपमें वर्तमान कर्मवादका स्वरूप है।

गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना

अब गीताके कर्मयोगपर कुछ विचार कीजिये—

अवश्य ही, गीतामें किसी व्यक्ति, जाति, देश या विश्वके हितके लिये कर्म करनेका कहीं भी निषेध नहीं किया है, वरं स्वधर्म-पालन और सर्वभूतहितमें रत रहनेकी ही आज्ञा दी गयी है। परन्तु गीताकी दृष्टिमें कर्मके बाह्य स्वरूपका इतना महत्त्व नहीं है, जितना कर्ताकी बुद्धिका है। कर्म बाहरसे मृदु हो या कठोर, लोकदृष्टिमें अनुकूल हो या प्रतिकूल, प्रेम हो या युद्ध, भोग हो या त्याग, यदि उसमें ज्ञान, भक्ति और समत्व है तो वही कर्मयोग है। श्रीभगवान्ने (गीता १८। ४६ में) कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त विश्वब्रह्माण्ड व्याप्त है अर्थात् जो स्वयं विश्वरूपमें प्रकाशित है, उस (परमेश्वर) की अपने कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।'

इसमें ज्ञान और भक्तिसे युक्त कर्मकी व्याख्या है। यह जान लेना होगा कि श्रीभगवान् ही जगत्भरमें व्याप्त हैं, और मनुष्यको उन्हींकी पूजा करनी है, समस्त कर्म उन्हींकी पूजाके लिये हैं। कर्म कौनसे? केवल जप, तप, पाठ, पूजा ही नहीं, जिसका जो स्वकर्म हो, जिसके लिये जो कर्तव्य हो, उन्हींसे भगवान्की पूजा होगी। अर्जुन क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध ही कर्तव्य है, वहाँ रणाङ्गणमें आततायी प्रतिपक्षियोंका वध करके उनके रक्तसे ही कालरूपसे प्रसिद्ध भगवान्की पूजा करनी होगी। तुलाधार वैश्य क्रयविक्रयरूप व्यापारसे भगवान्की पूजा करता है। धर्मव्याध सेवाद्वारा भगवान्को पूजता है, याज्ञवल्क्य संन्यास और ज्ञानद्वारा उनकी पूजा करते हैं। जनक-

ने राज्यपालन करके उन्हें पूजा। ब्रह्मचारी गुरुसेवा और विद्याध्ययनद्वारा भगवान्‌की पूजा करें। यह आवश्यक नहीं कि पूजाकी सामग्री एक-सी हो, आवश्यकता है, पुजारीके हृदयके भावकी। यदि वह भगवान्‌के स्वरूपको समझकर, भगवान्‌की पूजाके लिये—किसी फलके लिये नहीं—किसी कर्ममें आसक्त होकर नहीं, केवल यज्ञार्थ—भगवदर्थ—किसी भी कर्तव्यकर्मको करता है तो वही कर्मयोग है। यह याद रखना चाहिये ऐसे कर्म करनेवाले कर्मयोगीसे वास्तविक लोकहितसे विपरीत कर्म या पापकर्म कदापि नहीं बन सकते। अमृतसे कोई मरे तो गीतोक्त कर्मयोगीसे किसीका अहित हो!

इसी कर्मयोगकी व्याख्या भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके निम्नलिखित श्लोकोंमें की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

हे अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, कर्मफलके हेतुसे कर्म न कर, (परन्तु) कर्म न करनेमें भी मन न लगा। आसक्तिको त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्‌के चिन्तनमें चित्त लगाये हुए ही) कर्म कर। (फल श्रीमगवान्‌के हाथमें है, उनकी इच्छासे जो कुछ भी फल होगा, बस, वही होना चाहिये, मुझे तो उनके चिन्तनमें चित्त लगाये हुए उनकी इच्छानुसार कर्म करना चाहिये) यह समत्व ही योग कहा जाता है।

असलमें कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, कर्मफलमें अधिकार नहीं है। कोई भी मनुष्य यह दावा नहीं कर सकता कि मैं केवल कर्म करके ही अमुक फल प्राप्त कर लूँगा। किसान खेत जोतकर उसमें बीज डाल सकता है। परन्तु उसमें अनाज उत्पन्न होना उसके हाथमें नहीं है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, चूहे, टिड्डी, पाला आदिसे पकी-पकायी फसल भी नष्ट हो सकती है। तथापि उसे खेत जोतकर बीज तो डालना ही चाहिये, क्योंकि यह उसके हाथकी बात है और यही उसका कर्तव्य है। इसपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब फल अपने हाथमें नहीं है, तब कर्म ही क्यों किया जाय? चुपचाप बैठे रहनेसे भी जो होना होगा सो हो ही जायगा।' इसीलिये भगवान्‌ने पहलेसे सावधान कर दिया कि 'कर्म-त्यागकी ओर तेरा मन नहीं लगना चाहिये' क्योंकि कर्ममें मनुष्यका अधिकार है। यद्यपि जगत्‌में सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है। उन लीलामयकी ही सारी लीला है, परन्तु वे मनुष्यको निमित्त बनाते हैं—इसीलिये उसे कर्मका अधिकार दिया गया है। कौरवोंको भगवान्‌ने पहलेसे ही मार रक्खा था, विराट् स्वरूपमें अपनी विकराल दाढ़ोंमें सबको चूर्ण अवस्थामें दिखला भी दिया, अर्जुन निमित्त न बनते तब भी उनका संहार होता ही, परन्तु अर्जुनको निमित्त बनाकर ही भगवान्‌ने उनका संहार करवाया। अतएव मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिये परन्तु फलकी आशासे नहीं। अवश्य ही कर्म बिना उद्देश्यके नहीं होता, इसलिये मनुष्यके कर्ममें भी कोई उद्देश्य या लक्ष्य रहेगा। व्यापारमें धन मिले, युद्धमें जय हो, दवासे रोग नष्ट हो, यह उद्देश्य व्यापार, युद्ध और औषध-सेवनमें है, कर्मकी सफलताकी ओर दृष्टि है, परन्तु वास्तवमें फल कुछ भी हो, धन मिले या न मिले, जय हो या पराजय हो, रोग दूर हो जाय या बढ़ जाय, उसका उसमें समान भाव है। क्योंकि वह आसक्ति और कामनाके वश होकर कर्म नहीं करता, उसके कर्ममें इन कामनाओंकी प्रेरणा

नहीं है, उसके कर्म-प्रेरक भगवान् हैं, वह भगवान्‌की पूजाके लिये ही स्वकर्म या स्वधर्मका पालन करता है। उसका राज्य-ग्रहण या संन्यास दोनों भगवान्‌के लिये ही होते हैं। सब प्रकारकी आसक्ति, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर भगवान्‌के साथ योगयुक्त होकर कर्म करना ही गीतोक्त कर्मयोग है। इसमें भगवान्‌का ज्ञान है, भगवान्‌की भक्ति है और फलमें सर्वथा समत्व है। इसीलिये भगवान्‌ने आरम्भमें ही कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धमें प्रवृत्त हो, ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।

ऐसा न करनेसे पापकी सम्भावना है, क्योंकि कामना और आसक्तिके वश होकर केवल फलानुसन्धानमें लगे रहकर कर्म करनेसे धर्म और ईश्वरका ध्यान छूट जाता है। जिससे मनुष्य आरम्भमें विश्वहित या देशहित आदि उत्तम उद्देश्य होनेपर भी काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदिके अधीन होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और आसुरीभावके साम्राज्यमें पहुँचकर असुरवत् कार्य करता हुआ नरकका भागी होता है।

भगवान्‌ने आसुरीभावका वर्णन करते हुए कहा—आसुरी भाववाले लोग कहते हैं कि—'जगत् आश्रयरहित है, इसके मूलमें कोई सत्य नहीं है, ईश्वर भी नहीं है, परस्परके काम-सम्बन्धसे ही सृष्टि हुई है, (प्रकृतिसे ही सब आप ही बन गया है) इसप्रकारकी नास्तिक दृष्टिको आधार बनाकर वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, अत्याचारी मनुष्य जगत्‌का ध्वंस करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। उनकी कामना किसी प्रकारसे पूरी नहीं होती। वे दम्भ, मान और मदसे पूर्ण हुए मोहवश असत् सिद्धान्तोंका ग्रहणकर हीन, अपवित्र निश्चयों और कार्योंको लेकर ही जगत्‌में बुरे आदर्शोंका प्रचार करते हुए विचरते हैं। उनकी भोग-चिन्ताओंका कोई पार नहीं, अशेष विषय-चिन्ताओंमें डूबे हुए ही वे मरते हैं। कामोपभोगके सिवा और कुछ नहीं है, यही उनका निश्चित मत है। वे सैकड़ों आशारूपी फाँसियोंमें बँधे हुए, काम-क्रोध-परायण, केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये अन्यायपूर्वक भोग-पदार्थोंके सञ्चय करनेमें लगे रहते हैं। आज यह मिला, अब वह मिलेगा; अभी मेरे पास इतना धन है, आगे और भी धन होगा; आज उस शत्रुको मारा है, अब उन शत्रुओंका काम तमाम करूँगा; मैं ऐश्वर्यवान् हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा। इसप्रकारके अज्ञान-विमोहित, अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे सदा भ्रमित चित्तवाले, मोह-जालमें फँसे और कामोपभोगमें आसक्त मनुष्य महान् क्लेशमय अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।'

आजके कर्मवादके पीछे पागल-जगत्‌के लोगोंमें प्रायः इन्हीं लक्षणोंकी प्रधानता मिलेगी। ईश्वर और धर्मके बहिष्कार या विनाशकी दर्पपूर्ण कर्म-चेष्टा, ईश्वर और धर्मके नामपर भोगसुख प्राप्त करनेका दम्भपूर्ण प्रयत्न, व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रोंमें परस्पर विनाश करनेकी हिंसामयी नीति, यूरोपका द्वेष-लोभपूर्ण गत भीषण महायुद्ध और आगामी विश्वव्यापी महायुद्धका वर्तमान उद्योगपर्व, अन्दरसे द्वेष परवश हो बल बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहनेपर भी ऊपरसे मैत्री और शस्त्रसंन्यासकी पाखण्डभरी चेष्टा, दबे हुएको दबाने और उठते हुएको गिरानेकी अभिमानपूर्ण क्रिया, प्राकृतिक अमिट भेदमें अभेद-स्थापनकी और नित्य अचल अभेदमें भेद-स्थापनकी अज्ञानमयी

चेष्टा, पुरातन सर्वथा मिटाकर नवीन श्रृंखलाविहीन जीवनकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न, अपनेसे भिन्न मत रखनेवालोंको गालियाँ देना और नीचा दिखानेकी कोशिश करना, परलोक, प्रारब्ध, ईश्वर और सदाचारकी कुछ भी परवा न कर केवल भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मर्यादारहित मनमाना आचरण करना आदि कार्योंसे इसका पूरा परिचय मिल जाता है। इसमें उनकी नीयतका दोष नहीं है, वस्तुतः ईश्वरको भुलाकर केवल इहलौकिक सुखकी प्राप्तिके हेतुसे, भोग-पदार्थोंके संग्रहके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है । इसीलिये यह समझ लेना चाहिये कि गीताका कर्मयोग ईश्वररहित, और आसक्ति तथा कामनायुक्त कर्मवाद नहीं है । गीताका कर्मयोग इससे बिल्कुल अलग है। वहाँ तो अर्जुनको भगवान्‌ने (गी० ३ । ३० में) स्पष्ट आज्ञा दी है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

'हे अर्जुन ! तू मुझमें संलग्न किये हुए चित्तसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके आशारहित और ममतारहित होकर एवं मनस्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर !'

युद्ध करनेकी आज्ञा है, परन्तु न राज्यमें ममत्व रहे, न विजयकी आशा रहे और न अभावजनित सन्तापसे चित्त जले । चित्त भगवान्‌में लगा है और उन्हींकी आज्ञानुसार उन्हींकी प्रेरणासे निष्कामभावसे युद्ध हो रहा है । इस गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना कैसे की जा सकती है ?

यह सत्य है कि गीता जिसप्रकार ज्ञानकी अवहेलना नहीं करती, इसी प्रकार संसारकी, और सांसारिक कर्त्तव्यकर्म, जीविका, कुटुम्ब-पालन, माता-पिताकी सेवा, जातिसेवा, देशसेवा, आर्तसेवा, मानवीय अधिकार और धर्मके लिये युद्ध, दुर्बल-रक्षा, अत्याचारीका दमन, अन्यायका विरोध, परोपकार अथवा वर्णाश्रम-धर्मका यथाविधि पालन आदि किसी भी नैतिक धर्मका किञ्चित् भी विरोध नहीं करती, प्रत्युत इनके लिये उत्साहित करती है और स्वधर्मपालनके लिये क्षत्रिय अर्जुनको हँसते-हँसते जीवनकी बलि चढ़ा देनेतकके लिये आज्ञा करती है । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, 'तुम आत्माके अमरत्व और सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभावको मनमें रखकर, भगवान्‌को समझकर, भगवान्‌के लिये वीरकी भाँति युद्ध करो, रणक्षेत्रमें वीरगतिको प्राप्त करो या वीरकी तरह विजय-लाभ करो, परन्तु मनमें आसक्ति, कामना, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आशा आदि न रक्खो ।' कर्त्तव्य-कर्मके लिये मर-मिटनेका कितना ऊँचा मार्मिक उपदेश है ! आधुनिक कर्मवादसे यह क्षत्रिय-धर्म भी कितना ऊँचा है !

जगत् त्रिगुणात्मक है, इसमें निरन्तर तीनों गुणोंके ही कार्य हो रहे हैं । इनमेंसे जब जिस गुणकी प्रधानता होती है, तब उसके कार्यका रूप भी वैसा ही होता है । यह सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, निरन्तर ऊपर उठनेकी चेष्टा न की जाय तो स्वभावसे पतन ही होता है । सत्त्वगुणसे भी यदि ऊपर चढ़नेकी, गुणातीत होनेकी चेष्टा न होगी तो सत्त्व, रजोमुखी होकर रजोगुणप्रधान और क्रमशः तमोमुखी होकर तमोगुणकी प्रधानताके रूपमें परिणत हो जायगा । सत्त्व और रज दबकर तम विकसित हो उठेगा । अतएव यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कर्ममें भगवान्‌की ओर दृष्टि और भगवान्‌का आश्रय नहीं है, जो केवल इहलौकिक विषय-लाभकी दृष्टिसे किया जाता है, वह सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्रमशः रजोगुणकी ओर बढ़कर रजप्रधान हो जाता है । रजोगुणकी वृद्धि होनेपर किन-किन

लक्षणोंका उदय होता है ? श्रीभगवान् कहते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥
(गीता १४।१२)

'हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, कर्मोंका (अनेकमुखी) आरम्भ, चित्तकी चञ्चलता, विषय-भोगोंके प्राप्त करनेकी स्पृहा—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।' इसप्रकारके लक्षणोंसे युक्त रजोगुणी कर्मोंके कर्त्ताका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥
(गीता १८।२७)

वह कर्म और फलमें आसक्तिवाला, फल चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र आचरण करनेवाला और हर्ष-शोकमें डूबा रहनेवाला होता है।

आधुनिक कर्मवाद और कर्मवादियोंमें ये लक्षण, पूर्णरूपसे चरितार्थ होते हैं। अवश्य ही मोह, अप्रवृत्ति, आलस्य और प्रमादमय तामसिक जीवनसे यह जीवन कहीं श्रेष्ठ है, परन्तु यह आदर्श नहीं है। रजोगुण सत्त्वमुखी न होगा तो तमोमुखी हो जायगा और अन्तमें तमोगुणकी प्रधानताका रूप धारण कर लेगा। किसी समय भारतवर्षमें भी जन्म-कर्मफलप्रद भोगैश्वर्यगतिकी प्राप्तिके लिये कर्मकाण्डकी प्रचुरता थी, यद्यपि भारतका वह कर्मकाण्ड आधुनिक नास्तिकतापूर्ण कर्मवादसे बहुत ही ऊँचा था, तथापि उसमें लौकिक कामना और आसक्ति होनेके कारण वह कर्मप्रवृत्ति भी अन्तमें तमोमुखी हो गयी। भारतकी आजकी तामसिकता, उसका मोह और आलस्यमय जीवन इसीका परिणाम है। इसीलिये भगवान्ने घोषणा की थी कि 'भोगैश्वर्यमें आसक्तिवाले पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती।' परन्तु गीतोक्त कर्मयोगी भोगैश्वर्यमें आसक्त नहीं होते। वे न तो भोग-सुखकी स्पृहा करते हैं और न वैध भोगका अकारण विरोध ही करते हैं।

भगवान्ने उनके विषयभोगकी व्याख्या करते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २।६४-६५)

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, जिसमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है। उस (विमल) प्रसादसे समस्त दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि (एक परमात्मामें) शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।'

मन और इन्द्रियोंका गुलाम होकर विषयोंकी आसक्तिसे नहीं, प्रत्युत मन और इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर यथावश्यक ऊपर उठानेवाले विषयोंका सेवन करनेवाला पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है। इसीलिये गीताके कर्मयोगकी शिक्षामें कामोपभोगकी अनित्यता, सुख-दुःखकी क्षणभंगुरताका बार-बार वर्णन आता है और विषयोंसे मन हटाकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक कामना और फलासक्तिशून्य हृदयसे कर्म करनेकी आज्ञा दी जाती है। भगवान् कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २।६०-६१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५। ११-१२)

'हे अर्जुन! प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं। अतएव इन इन्द्रियोंको वशमें करके मनको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाना चाहिये। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये जो सब भोग हैं, सो (मोहवश सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः) निःसन्देह दुःखके ही कारण हैं और सदा एक-से नहीं रहकर—कभी उत्पन्न होने और कभी नाश होनेवाले आदि-अन्तरूप हैं, अतएव बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता। इसलिये (ममत्व-बुद्धिरहित) निष्कामकर्मयोगी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं, इसीसे वे परमात्मामें चित्त लगाये हुए कर्मयोगी पुरुष कर्मफलको त्यागकर भगवत्-प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होते हैं। विषय-चिन्तनमें लगा हुआ सकामी मनुष्य फलासक्तिके कारण कामनाके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि हुए बिना भगवत्-भाव नहीं होता। भगवत्-भावकी प्राप्ति बिना शुद्ध भगवत्-प्रेरित कर्म नहीं हो सकते। इसलिये कर्मयोगी पहले भगवत्-भावकी प्राप्तिके लिये और भगवत्-भावकी प्राप्ति होनेपर केवल भगवान्की प्रेरणावश यन्त्रकी भाँति कर्म करता है। उस समय वह कर्मके बाह्य स्वरूपको न देखकर—अर्जुनकी भाँति गुरुबध, स्वजनबध, भीषण हिंसा आदिकी बात न सोचकर—केवल भगवान्की प्रेरणाको देखता है। भगवान् ही उसकी गति, नीति, उद्देश्य, जीवन और धर्म होते हैं। भगवान्के साथ युक्त होकर भगवदीय कर्म करना ही उसका स्वभाव होता है। यही गीताकी अन्तिम शिक्षा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंके वशमें होकर, भोग-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे मनमाना करते हुए मनुष्य उसे ईश्वरकी प्रेरणा समझने या कहने लगे। श्रद्धापूर्वक भगवान्का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए मनुष्यके अन्तःकरणमें जो शुद्ध स्फुरणा हो, और जिससे इन्द्रियभोग-लालसा और कामनाका क्रमशः दमन होता हो, जो शास्त्रोक्त कर्म हो, पहले-पहले ऐसे ही शुभ कर्मोंकी प्रेरणाको भगवत्-प्रेरणा समझे। साधना करते-करते भगवत्प्रेरणाकी स्पष्ट अनुभूति होने लगेगी। इसीलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः अर्जुन-जैसे योग्य अधिकारीके लिये है। परन्तु वह अधिकार भी गीताकी शरण, गीताका अध्ययन और मनन एवं गीताके उपदेशानुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे ही प्राप्त होगा। इसलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः इन्द्रियसंयमी, तपस्वी, भक्त अधिकारीके लिये होते हुए भी, साधारणतः सभीके लिये है। अनधिकारके कारण ही गीताका दुरुपयोग होता है और इसीसे आधुनिक कर्मवादकी सिद्धि या उसका समर्थन गीताके द्वारा करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है।

गीताका कर्मयोग शुद्ध भगवद्मुखी है और आधुनिक कर्मवाद केवल भोगमुखी है, यही इनमें सबसे बड़ा अन्तर है। भोगमुखी होनेके कारण ही इसमें राग, द्वेष, घृणा, काम, क्रोध और पाप-ताप आदिका

प्राबल्य है और इसीलिये ऐसे कर्मवादियोंकी यह समझ है कि बिना कामनाके कर्म कैसे हो सकता है ? बिना राग-द्वेषके कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी ? यदि फलकी ही इच्छा नहीं है तो कर्ममें बेगारके भावको छोड़कर उत्साह होगा ही क्यों ? भोगमुखी रजोगुणी कर्मप्रवृत्तिमें आसक्ति, कामना, क्रोध, द्वेष, राग, घृणा आदि दोष रहते हैं, इसीसे ऐसी समझ बन गयी है। परन्तु जिनमें सत्त्वगुणका प्रकाश हो गया है, जिनकी बुद्धि परमात्ममुखी है—वे भगवान्‌के लिये कठोर-से-कठोर कर्म करनेमें भी सात्त्विक उत्साह पाते हैं। मजा यह कि फलकी आसक्ति या राग-द्वेष-पूर्वक होनेवाले कर्ममें कर्म करते समय कामना, आशंका, भय, उद्वेग, चञ्चलता आदिके कारण मार्गच्युत होनेका जो डर रहता है और फलके अनुकूल न होनेपर जो विषाद होता है, वह गीतोक्त कर्मयोगी-को नहीं होता। वह तो अनुकूल, प्रतिकूल फलको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पणकर, यन्त्रीके यन्त्रकी भाँति नित्य नये उत्साह और आनन्दके साथ स्वामी या प्रियतम प्रभुका कार्य करते-करते कभी थकता ही नहीं। क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु उसे अनवरत शक्ति-दान करते रहते हैं, वह चलता ही प्रभुकी शक्तिसे है, अपना अहंकार उसे कभी नहीं होता। वह कभी मार्ग नहीं भूलता, क्योंकि उसे निरन्तर प्रभुसे प्रकाश मिलता रहता है। प्रभुके नित्य-चिन्तनसे उसके हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति सदा जगमगाया करती है। वह कभी मनमानी वस्तु पाकर या सफलतासे प्रमत्त होकर कर्तव्यच्युत नहीं होता, क्योंकि कोई नयी वस्तु पानेके लिये उसके मनमें अभिलाषा ही नहीं रहती। वह तो प्रभुका सेवक है, व्यापारी नहीं! भगवान्‌की शक्तिसे उसकी शक्ति, भगवान्‌के ज्ञानसे उसका ज्ञान, भगवान्‌के प्रेमसे उसका प्रेम, भगवान्‌की दिव्य बुद्धिसे उसकी बुद्धि, सदा शक्ति, ज्ञान, प्रेम और विवेक पाती रहती है। अतएव वह कर्मयोगी अत्यन्त कुशलता, अदम्य उत्साह, अतुल तेज, अमल विवेक, अपार शान्ति, अमित आनन्द और अलौकिक प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ भगवान्‌के लिये सदा उल्लाससहित कर्म किया करता है। वह कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वको समझकर ही कर्म करता है, इसीसे उसके कर्ममें ज्ञान, भक्ति और समता—तीनोंका संयोग रहता है, जो आसक्ति, कामना और राग-द्वेषादि वैरियोंके वशमें होकर बिना जीते हुए मन-इन्द्रियोंसे कर्म करनेवाले कर्मवादीके लिये कभी सम्भव नहीं है। सात्त्विक कर्त्ताका लक्षण भगवान् बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
(गीता १८। २६)

आसक्तिसे रहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है।

गीताने तो इस सात्त्विकतासे भी ऊपर उठनेका आदेश किया है। क्योंकि सतोगुण भी जीवको बाँधता है। (यद्यपि सत्त्वगुणका बन्धन जाग्रत् और प्रयत्नशील रहनेपर बन्धन काटनेवाला ही होता है।) इसीसे भगवान्‌ने कहा है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!' अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा। गीताके कर्मयोगी-के द्वारा गुणातीत होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं। इस बातको भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें स्वयं अपना उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है और निरन्तर निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करने-की आज्ञा दी है। एवं अन्तमें उस निष्काम कर्मसे ही शाश्वतपदकी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
(गीता १८ । ५६-५७)

'मेरा आश्रयी होकर निष्काम कर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ ही मेरी कृपासे सनातन अव्यय पदको प्राप्त करता है अतएव सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो समत्व बुद्धि-रूप कर्मयोगका अवलम्बन करके (हे अर्जुन !) तू निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो ।'

जो लोग वास्तवमें कर्मयोगका आश्रय लेकर भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए ही भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका—स्वधर्मका आचरण करें । भगवान्‌ने गैरंटी देते हुए कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

अर्जुन ! इसलिये सब समय (निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध (स्वधर्म-पालन) कर । इसप्रकार युद्धमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।

ऐसे ही मनसे भजन करते हुए भगवदर्थ कर्म करनेवाले योगियोंको भगवान्‌ने सबमें श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें अन्तरात्माको लगाकर निरन्तर मुझे भजता है, वही योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है ।

गीताके इस निष्काम कर्मयोगसे, आधुनिक राग और कामनामय कर्मवादमें कितना महान् अन्तर है; ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठक इसको समझ गये होंगे ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मनमोहनसे

(१)

स्मृति बनकर रहते हो क्यों तुम मुझको घेरे ।
दिखलाते हो नहीं पास इतने हो मेरे ॥
कर न सका सेवा, सुश्रूषा, आगत, स्वागत ।
इससे रूठ न जाना, आना नित्य सबेरे ॥

(२)

जितना आप समझते उससे अधिक घृणित हूँ ।
कोई और नहीं है जितना घोर पतित हूँ ॥
किन्तु मुझे चिन्ता क्या, जबतक आप 'आप' हैं ,
आप पतितपावन, मैं चरणोंमें अर्पित हूँ ॥

—पद्मकान्त मालवीय

विवेक-वाटिका

मुझमें मन लगा दो और मुझमें ही बुद्धि लगा दो; फिर तुम निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे ।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❁ ❁ ❁

जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काठोंमें प्रवेश करके अनेक रूपवाला हो जाता है । इसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त भूतोंमें अनेक प्रकारका हो जाता है । —उपनिषद्

❁ ❁ ❁

शोक, मोह, दुःख, सुख और देहकी उत्पत्ति सब मायाके ही कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्नके समान बुद्धिका ही विकार है । इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है । एक भगवान् ही सत्य है । —श्रीमद्भागवत

❁ ❁ ❁

शरीर और मन-बुद्धिको जीता हुआ अपरिग्रही, निराशी मनुष्य शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता । —श्रीमद्भगवद्गीता

❁ ❁ ❁

सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंमें फँसे हुए जीवोंमें जो मनुष्य हर्ष-शोक-रहित होकर विचरण करता है वही तृप्त है । —देवर्षि नारद

❁ ❁ ❁

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष ही चाहता हूँ । मैं दुःखपीड़ित प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ । —राजा शिवि

❁ ❁ ❁

मैं परमेश्वरसे आठ सिद्धियोंवाली उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता, मैं केवल यही चाहता हूँ कि समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनके कष्टोंको भोगूँ, जिससे उन्हें कष्ट न हो । —राजा रन्तिदेव

❁ ❁ ❁

लोभ, दीनता, भय और धन आदि किसी भी कारणसे मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता—यह मेरा दृढ़ निश्चय है ।

—भीष्मपितामह

❁ ❁ ❁

सब जीवोंमें आत्मभावना रखनेके कारण यदि समस्त गुणोंके आधार अद्वितीय परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों तो (मुझे मारनेकी चेष्टा करनेवाले) ये ब्राह्मण (दुर्वासाजी) सन्तापसे छूट जायँ । —अम्बरीष

❁ ❁ ❁

धर्म-पालनमें बहानेबाजी कभी नहीं करनी चाहिये, मैंने सत्यहीसे सब शस्त्र प्राप्त किये हैं । मैं सत्यसे कभी नहीं डिग सकता । —भक्तवर अर्जुन

❁ ❁ ❁

श्रीहरिके चरणोंकी सेवा मनुष्योंको स्वर्ग, मोक्ष, इस लोककी महान् सम्पत्ति और सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाली है । —सुदामा

❁ ❁ ❁

भगवान्‌की पूजा छोड़कर जो लोग दूसरेकी पूजा करते हैं, वे महामूर्ख हैं । —भक्त चक्रिक भील*

❁ ❁ ❁

'मैं' और 'मेरा' इन दो शब्दोंमें ही सारे जगत्‌के दुःख भरे हैं । जहाँ 'मैं' 'मेरा' नहीं है वहाँ दुःखोंका अत्यन्त अभाव है । —स्वामी रामतीर्थ

❁ ❁ ❁

---

* राजा शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिकको शिक्षाप्रद जीवनी पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'आदर्श भक्त' नामक पुस्तक मँगवाइये। मूल्य ।-) है ।

मनुष्य-स्वभाव

(लेखक—स्वामी श्रीरामानन्द संन्यासी शास्त्री,व्याकरणाचार्य, साहित्यालङ्कार, वेदान्त-विभूति)

उत्तरकाशीके कुछ आगे गङ्गा-तटके विशाल शिला-पट्टपर बैठे एक महात्मा कुछ विचार कर रहे थे। हम सायं-प्रातः जब उधर जाते, संन्यासीजीको उसी स्थितिमें बैठे पाते। एक दिन हमने उनके पास जाकर कुछ पूछा। उन्हें अपने पास हमारा जाना और पूछना अच्छा नहीं लगा। वे भीतरसे रूखे पर बाहरसे मृदु शब्दोंमें बोले 'जैसे मैं तुम्हारे समाजका त्याग करके यहाँ तुम्हारे अनधिकृत देशमें आकर समय व्यतीत कर रहा हूँ वैसे ही तुम्हें भी चाहिये कि मुझे दृष्टिके ओझल कर दो। मैं जिस प्रश्नपर विचार कर रहा हूँ वह अभीतक हल नहीं हुआ है, फिर मैं तुमको इस अनिश्चित विषयपर क्या कह सकता हूँ। यदि कुछ कहा भी तो तुम मानने कब लगे। कदाचित् मान भी लो तो भी प्रयोग (अमल) में तो ला ही नहीं सकते। तुम रात-दिन सब कुछ देख-सुन रहे हो, पर व्यवहार तुम्हारा बधिरान्धकी तरह है। वेद-पुराण पढ़नेका ढोंग रचकर तुमने अपनी आँखें फोड़ डालीं, पर इस द्रविड़-प्राणायामका मनपर भी कुछ असर पड़ा? तुम जन्मभर इधर-उधर दौड़कर जुलाहे-की तरह ताना-बाना-सा बुनते रहे पर वह वस्त्र नहीं तैयार किया, जिसे ओढ़ परमेश्वरकी राज-सभामें जाकर मुँह दिखाने लायक बन सकते! बड़े-बड़े व्यापारोंसे विपुल धन सञ्चय किया सही पर वैसी एक कानी कौड़ी भी नहीं कमायी जिसे वहाँके बाजारमें भुना सको!

पढ़े-लिखे शिक्षित बननेके लिये अनेकों विद्यालय और महाविद्यालय खोल डाले, पर तुम उस रेखासे एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़े, जहाँ सैकड़ों वर्ष पहले खड़े या पड़े थे। धर्म-सभाओंके ऊँचे मञ्चसे गला फाड़कर भरी सभामें स्वतन्त्र, सदाचारी, बली, धनी और ज्ञानी बननेका सबको मार्ग दिखाते रहे पर स्वयं इन गुणोंके पास फटकतेतक नहीं हो। यह भी जानते हो कि कार्य करनेसे सिद्ध होगा, कहनेसे बिगड़ सकता है, परन्तु तो भी करते नहीं। तुमने बड़े-बड़े विद्यालय कहने-सुननेहीके लिये बना रक्खे हैं, कुछ करने-धरनेके लिये नहीं! तुम्हें गर्व है कि हम लोगोंको विद्वान् बना रहे हैं, पर मैं कहता हूँ कि तुम उनके स्वभावको और भी खराब करके उनके जीवनकी मिट्टी पलीद कर रहे हो। अपने जाननेमें भलाई कर रहे हो, पर हो बुराई रही है। सब कुछ जानते हो, पर काम ऐसे कर रहे हो जो पशु-पक्षियोंको भी लज्जित कर दें। संसारभरकी बड़ी-बड़ी बातें छोड़कर मैं केवल इसी तुच्छ-सी बातके विषयमें तुमसे पूछता हूँ कि, 'क्या तुमलोग यह जरा-सी बात भी नहीं समझते कि किसीके अत्याचार करनेपर जैसे मुझे कष्ट होता है वैसे ही यदि मैं किसीको दुःख दूँगा तो उसकी आत्मा भी रो पड़ेगी।' पर नहीं, लोग जिस बातको अपने लिये बुरा समझते हैं, उसीको दूसरोंके लिये करनेमें संकोच नहीं करते। या जिस वस्तुसे अपना हित साधन करना चाहते हैं, उसीसे दूसरेको लाभान्वित नहीं होने देते।

अवतार, ऋषि, मुनि, आचार्य, पण्डित तथा अन्य अनेक सज्जनोंने मनुष्य-समाजको समय-समयपर बड़े उपयोगी अमूल्य उपदेश दिये और अनेक कार्य-क्रम उपस्थित किये पर इसने उनपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, दिया तो विपरीत ही। यागादि

अनुष्ठान, भक्ष्यादि विविध पदार्थ, ज्योतिष-वैद्यकादि अनुशासन, भगवद्भक्ति आदि निष्कण्टक राजमार्ग, बड़ी-बड़ी संस्थाएँ और भी अनेक वस्तुएँ परमेश्वरने तथा महापुरुषोंने मनुष्यके लाभके लिये बनायी-बतायी, पर तब भी यह सन्तुष्ट कहाँ हो सका है ? महात्मा तथा शास्त्रोंमें बतलाये हुए एक-एक उपाय इसका उद्धार कर सकते हैं, पर यह ध्यान दे तब तो।

उलटे, इसके भयानक व्यापारको देखकर स्थिरा (पृथिवी) का भी कलेजा काँप जाता है। जब यह भयानक शस्त्रास्त्रोंसे सजकर बहुत-से नृशंस मनुष्योंको साथ ले दिन-दुपहरे बाजे बजाकर दूसरेकी प्रतिष्ठा अपहरण करने जाता है, उस समय इसका मनुष्यत्व और विवेक इसके साथ कहाँ रहता है ? दूसरेका सर्वनाश करके यह समझता है कि मेरी विजय हो गयी। पर मेरा विश्वास है कि उसने अपना सब कुछ गँवा दिया। वह चाहे हँसे पर मेरे विचारसे वह रो रहा है। मनुष्यको कदापि यह अधिकार नहीं है कि वह किसीकी ऐसी वस्तु छीन ले जिसे वह कभी दे नहीं सकता, पर मनुष्य ऐसा करता है, वह प्राणीके प्राण चुटकी बजाकर ले लेता है, पर अपने प्राणोंके बदले भी उसे दे नहीं सकता। यह अपने जरा-से स्वार्थके लिये सहर्ष उस जन्तुके जीवनसे खेल बैठता है जो जन्मभर इसकी सेवा या सहायता करता है या करता रहता है।

भावनाएँ भी इसकी बड़ी विलक्षण हैं, इसने कुछ जीवोंको ऊँचा और कुछको नीचा मान रक्खा है। हम यह नहीं कहते कि प्रकृतिने जगत्की सब वस्तुएँ तुल्य रची हैं। पर उनमें इतना भेद नहीं है जितना मनुष्य समझ रहा है। वस्तुमात्र भगवान् विराट्के अङ्गोपाङ्ग हैं। मनुष्य दूसरोंको अपनेसे हीन समझता है पर यह विचारकर पहले अपनेमें अपना आपा तो देख ले, तब पता लगेगा कि जन्म-जन्मान्तरके पापोंके कितने भयानक कीचड़से इसके अङ्ग-अङ्ग सने हैं। स्वार्थ यदि अनुमोदनीय नहीं है, तो मैं ऐसे मनुष्य-स्वभावकी प्रशंसा नहीं कर सकता। क्या पूछते हो ? मैं मनुष्य-स्वभावपर ही विचार कर रहा था। पर मैं अभीतक इस निर्णयपर नहीं पहुँचा हूँ कि मनुष्यका ऐसा स्वभाव क्यों है, जिससे वह स्वयं दुःख-समुद्रमें डूबता है और दूसरोंको क्लेशकी आगमें झुलसाता है।

मैं यह सोच रहा था कि मनुष्य यदि स्वात्मीयताका चश्मा लगाकर सर्वत्र अपना आपा देखने लगे तो इसके कौन-से व्यवहारमें त्रुटि आ सकती है ? यदि भगवद्भक्तिका जामा पहनकर भूमण्डलमें विचरने लगे तो वह कौन-सी जगह रह जायगी जहाँ अपना आत्मीय समझकर आगे-से-आगे सभी कुटुम्ब इसका स्वागत करनेके लिये उपस्थित न हो जायँगे ? यदि यह शस्त्रधारी शूरकी तरह हाथमें भाला लेकर मैदानमें निकल पड़े तो बाह्याभ्यन्तर शत्रुओंकी एक न चले। यदि यह भेद-बुद्धि दूर कर दे तो सब जड-चेतन मारे खुशीके फूले न समायें और यह भी सबको देखकर हँसकर नाचने लगे। ऐसा होनेसे इसके सब बिगड़े काम बन जायँगे। यह नाचेगा, दुनियाँ गावेगी। यह भागेगा, संसार रोकेगा। यह श्रीकृष्णकी वंशी लेकर आवेगा, जनता गोपी बनकर दौड़ेगी। वह चलना चाहेगा, लोग इसके आगे आँखें बिछा देंगे। इस शालिग्राम-प्रतिमाको जगत् हृदयके सिंहासनपर बैठावेगा। उस समय प्राणि-हृदय-तन्त्रीके तारोंको यह छेड़ेगा तो उससे वैदिक मन्त्रात्मक शब्द-पुञ्जकी सुरीली आवाज आवेगी।

जब मनुष्य सबको अपना और अपनेको सबका समझने लगेगा, तब न इससे कोई डरेगा और न यह

किसीसे भय मानेगा । उस समय सारा जगत् भाइयोंकी तरह सब व्यवहारोंको करता हुआ देखेगा कि आनन्दघन घनश्याम, श्यामसुन्दर, सुन्दरसरोज, सरोजाक्ष, अक्षमालाधारी, धरणीधर भगवान् श्रीकृष्ण यह आशीर्वाद दे रहे हैं कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

पर यह सब कुछ मनुष्य-स्वभावपर निर्भर है ।'

ऐसा कहकर महात्मा चुप हो गये । फिर पूर्ववत् ध्यानावस्थित हो कुछ सोचने लगे । हमने जाना कि ये 'कल्याण' के प्रेमी हैं, 'कल्याणमार्ग' के पथिक हैं । अनन्तर हम उनका अभिवादन करके चले आये ।

कल्याण

बुरे संगसे सदा दूर रहो; बुरा संग बुरे मनुष्यका ही नहीं होता । बुरी जगह, बुरा अन्न, बुरा ग्रन्थ, बुरा दृश्य, बुरी बात, बुरा वातावरण आदि सभी बुरे संग हैं । लगातारके बुरे संगसे बुरे परमाणुओंके द्वारा अन्दरके अच्छे परमाणु जब दब जाते हैं, तब बुरी बातें स्वाभाविक ही अच्छी मालूम होने लगती हैं । जैसा मन होता है वैसी ही दृष्टि होती है और जैसी दृष्टि होती है वैसा ही दृश्य दीखता है । सच्चे साधुको प्रायः सभी साधु दिखायी पड़ते हैं, चोरको चोर दीखते हैं, कामीको सब कामी और लोभीको लोभी दीखते हैं ।

× × ×

बुरे वातावरणमें रहते-रहते चित्त बुरा हो जाता है; फिर उसमें बुरे संकल्प उठते हैं; जिसके चित्तमें बुरे संकल्प उठते हैं, उसके समान दुखी तथा अपराधी और कौन होगा ? क्योंकि वह अपने चित्तके बुरे संकल्पोंको जगत्में फैलाकर दूसरोंको भी बुरा बनाता है ।

× × ×

चित्तमें सदा सत्-संकल्प रहने चाहिये । सत्-संकल्पके लिये सत्-संग, सत्-आलोचन, सद्ग्रन्थपाठ, सद्गुरु-सेवन आदिकी आवश्यकता है । जिसका चित्त सत्-संकल्पसे भरा है, वही सुखी और परोपकारी है; क्योंकि वह अपने संकल्पोंको जगत्में फैलाकर दूसरोंको भी सन्मार्गपर लाता है ।

× × ×

यह निश्चय करो कि मेरे चित्तमें कभी बुरी कल्पना नहीं आ सकती, मैं पवित्र हूँ, भगवान्‌की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया है । सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का अभय हाथ सदा मेरे सिरपर है । मैं उनकी छत्रछायामें हूँ । पाप-ताप मेरे पास नहीं आ सकते ।

× × ×

यह निश्चय करो कि मैं दुःखके संसारसे परे हूँ । मुझमें दुःख नहीं आ सकता । जगत्में मेरे प्रतिकूल कुछ नहीं हो सकता; सबमें अनुकूल भावना करो और नित्य सुखी रहो ।

× × ×

रोगकी अवस्थामें यह निश्चय करो कि बीमारी शरीरको है, मैं तो नित्य निरामय हूँ, मुझको कभी कोई रोग नहीं हो सकता । मैं सबका द्रष्टा हूँ । शरीर क्षणभंगुर है, नाशवान् है, किसी दिन नाश होगा ही । मैं अज हूँ, अविनाशी हूँ, अमर हूँ ।

× × ×

शोकके प्रसंगमें यह निश्चय करो कि मेरे लिये कभी शोकका प्रसंग आ ही नहीं सकता; प्रकृति जादूभरी है, और परिवर्तनशील है, इसमें उपजने और नष्ट होनेका खेल सदा होता ही रहता है। रूप बदलता है, मूल वस्तु कभी नष्ट नहीं होती, फिर मैं शोक क्यों करूँ ? अथवा, यह निश्चय करो कि मेरे स्वामी भगवान् जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें मेरा परम कल्याण है, यह ध्रुव सत्य है। शोक करना स्वामीके विधानपर असन्तोष प्रकट करना है जो सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः भगवान् हमारी भलाईके लिये ही सब कुछ करते हैं।

× × ×

कामके प्रसंगपर यह विचार करो कि जगत्की सारी सुन्दरता मेरे प्रभुकी सुन्दरताका एक कण है। मैं मोहवश उस परम सुन्दरको छोड़कर हाड़-मांसके थैलेपर आसक्त हो रहा हूँ, यह अज्ञान है। मैं अपने प्रभुकी कृपासे इस अज्ञानके वश नहीं हो सकता। मैं निर्मल हूँ, मैं असंग हूँ, मेरे हृदयमें राम हैं, मैं रामका हूँ, राम मेरे हैं, राम मुझे अपना स्वरूप मानते हैं, अतः मेरे निकट काम नहीं आ सकता। मेरे रामकी सुन्दरताके सामने सारी सुन्दरताएँ तुच्छ हैं, सूर्यके सामने जुगनूके समान भी नहीं हैं।

× × ×

क्रोधका अवसर आनेपर चुप रह जाओ और विचार करो। जगत्में सब ओर भगवान्का विस्तार है। भगवान् ही विश्वरूपमें प्रकाशित हैं; मैं भगवान्पर क्रोध कैसे करूँ, उनका अपमान कैसे करूँ। और निश्चय करो कि मैं क्रोधसे परे हूँ। मेरा हृदय नित्य क्षमासे पूर्ण है। सारे प्राणियोंके प्रति प्रेम, मैत्री, क्षमा और दया करना ही मेरा स्वभाव है। कठोर-से-कठोर वचन और व्यवहारको मैं सहर्ष सहन करूँगा। मेरे मनमें किसीके प्रति द्वेष नहीं है, इसलिये मैं क्रोधके वश कभी नहीं हो सकता।

× × ×

लोभकी बात सामने आनेपर मनमें विचार करो और निश्चय करो कि मैं पूर्ण हूँ, मैं किसीका धन नहीं चाहता। मेरे लिये जगत्में लुभानेवाली वस्तु कोई भी नहीं है। मुझमें कोई कामना, आकांक्षा नहीं है, फिर किसी चीज़के लिये मुझको लोभ कैसे हो सकता है ?

× × ×

कुछ समय प्रतिदिन एकान्तमें बिताओ, मौन रहो। शरीरका एकान्त और वाणीका मौन भी बहुत ही आवश्यक और लाभकारी है। एकान्त और मौन-अवस्थामें भगवान्का ध्यान और भगवन्नामका जप करो। मनके एकान्त और मौनके लिये साधन करो। मनमें किसी भी संकल्पका न उठना ही मनका एकान्त और मौन है। चित्त सर्वथा निर्विषय होकर केवल अचिन्त्य परमात्माके स्वरूपमें लग जाय। संसार और शरीरका कहीं मनमें पता ही न रहे।

× × ×

वाणीका इतना संयम तो अवश्य ही कर लो—बिना कार्यके अनावश्यक बातें बिल्कुल न करो, किसीकी निन्दा-चुगुली न करो, भरसक किसीकी स्तुति भी न करो, अश्लील शब्दोंका उच्चारण न करो, कड़ुए शब्द न बोलो, असत्य और दूसरेका अहित करनेवाले शब्द तो कभी मुँहसे भी न निकालो।

× × ×

मनमें भय, अशान्ति, उद्वेग और विषादको स्थान न दो। भगवान्की दया अथवा आत्माकी पवित्रता

और नित्यतापर विश्वास रखकर सदा शान्त, निर्भय और प्रसन्न रहनेका यत्न करो ।

× × ×

उत्तेजनासे सदा बचे रहो, धीरज कभी न छोड़ो । उत्तेजना और अधैर्यसे शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं, जिनसे छूटना मुश्किल हो जाता है ।

× × ×

किसीका अनादर न करो, किसीसे घृणा न करो, किसीका जी न दुखाओ । स्वयं सह लो, परन्तु स्वार्थवश किसीको कष्ट सहनेके लिये बाध्य कभी न करो । किसी भी अच्छे काममें लगे हुए पुरुषका दिल न तोड़ो, उसे उत्साह दिलाओ और यथासाध्य उसके अच्छे काममें सहायता दो ।

× × ×

गरीब, दीन, रोगी और आतुरोंमें भगवान्‌को विशेषरूपसे देखकर उनकी सेवा करो और बड़े आदर तथा प्रेमके साथ उनसे मिलो, उन्हें अपनाओ, और यथासाध्य उनके दुःख दूर करनेमें सहायता दो तथा उन्हें अपना बनाकर प्रभुके भजनमें लगा दो ।

× × ×

हृदयकी सरलतामें देवत्व या ऋषित्व है और कपटमें असुरत्व है । मनको सरल बनाओ । बात न बना सको तो चिन्ता नहीं । सम्भव है कपटी और वाक्-चतुर मनुष्योंकी नजरमें तुम मूर्ख समझे जाओ अथवा लोगोंकी भ्रमपूर्ण दृष्टिसे तुम ऐहिक उन्नति न कर सको, परन्तु निश्चय रक्खो, कपट-चातुरीसे अपनेको बुद्धिमान् सिद्ध करनेवालोंसे तुम निश्चय ही बहुत ऊँची स्थितिपर हो ।

× × ×

एक महात्माने कहा था—आजकल प्रायः लोगोंको ऊपरसे सुहावनी बातें कहनी आ गयी हैं, परन्तु हृदयमें दम्भ-कपट भर गया है । पहलेके लोग चाहे बोलना न जानते हों परन्तु उनका हृदय सरल था । वे अपना दोष छिपाना नहीं जानते थे । सावधान, दम्भी बनकर सुहावनी वाणी बोलनेवाले सभ्य बननेकी अपेक्षा सरल ग्रामीण बनना सच्ची उन्नतिका लक्षण है । सरलतामें पवित्रता है और कपटमें अपवित्रता है । कपटी मनुष्य दूसरेको जितना नुकसान पहुँचाता है उससे कहीं अधिक अपनी हानि करता है ।

× × ×

अपने पापोंको छिपाओ मत, और पुण्योंको प्रकट न करो । छिपानेसे पाप बढ़ेंगे और प्रकट करनेसे पुण्य घटेंगे । पुण्यको कपूर समझो, बोतलका मुँह खोलकर रक्खोगे तो उड़ जायगा । पाप बुरी वस्तु है, छिपाकर रक्खोगे तो अन्दर-ही-अन्दर जहरीली गैस पैदा करके हृदयके तमाम शुद्ध भावोंको नष्ट कर देगा ।

× × ×

जीवनके एक-एक क्षणको मूल्यवान् समझो और बड़ी सावधानीके साथ प्रत्येक क्षण भगवच्चिन्तन या आत्मचिन्तन करते हुए लोकहितके कार्यमें बिताओ । तुम्हारा कोई क्षण ऐसा नहीं जाना चाहिये जिसमें किसीका तुम्हारे द्वारा अहित हो जाय । अहित वाणी और शरीरसे ही होता हो, सो बात नहीं है; यदि तुम्हारे मनमें बुरा विचार आ गया तो मान लो तुम अपना और दूसरोंका अहित करनेवाले हो गये । बुरा विचार कभी मनमें न आने दो । यदि पूर्वसंस्कारवश आ जाय तो उसको तुरन्त निकाल बाहर कर दो । बुरे विचारको आश्रय कभी मत दो, उसकी ओरसे लापरवाह न रहो ।

× × ×

"शिव"
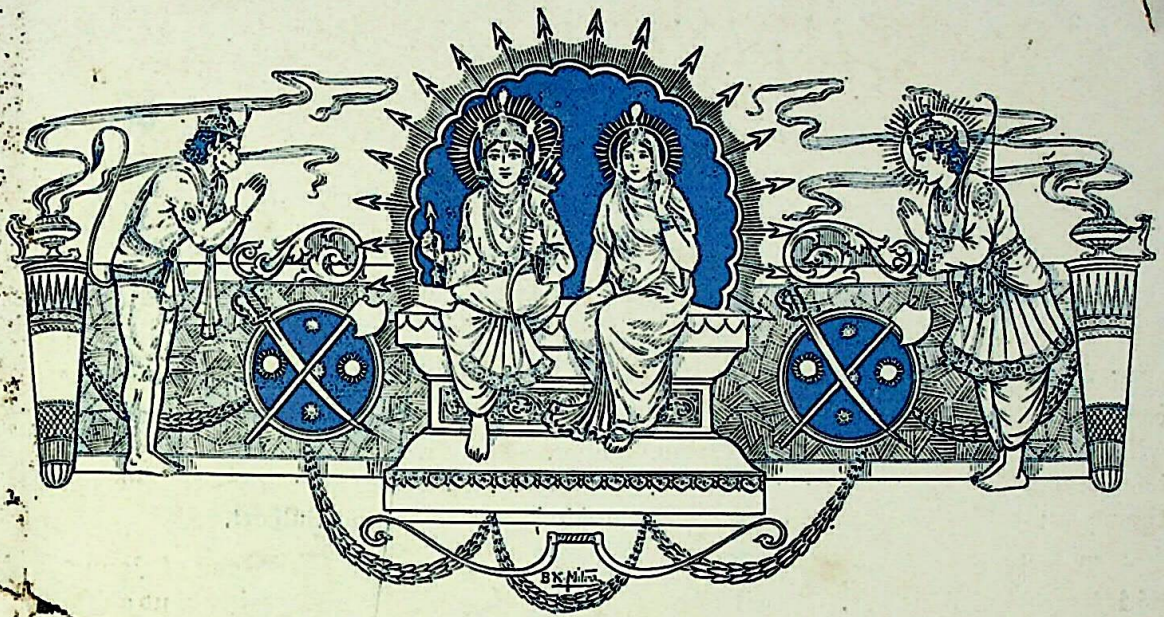
श्रीरामायणांक

अनेक प्रेमियोंके आग्रहसे 'रामायणांक' पुनः छप गया था। मूल्य वही २॥≈) ही रक्खा गया है। पृष्ठ पाँच सौसे ऊपर और सैकड़ों चित्र हैं। आपके संग्रहमें एक प्रति अवश्य रक्खें।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइण्डिंग सब सुन्दर हैं।

रामायणांकमें श्रीरामजीकी लीलाओंके अनेक सुनहरी, बहुरंगे, सादे चित्र एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र भी हैं।

रामायणांकमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों और रामायणप्रेमियोंके लेख हैं।

रामायणांक—सुखमय जीवनका अमोघ साधन है।

आजतक कल्याणके सिवा इतने बड़े किसी भी सामयिक पत्रको दुबारा छपकर आपकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। यदि आप इस बार इस अङ्कको न अपना सकेंगे तो समझ लीजिये कि एक उत्कृष्ट वस्तुसे वञ्चित रह जायँगे, क्योंकि इसके शीघ्र तीसरी बार छपनेकी आशा हम अभी आपको नहीं दिला सकते। अतः खरीदनेमें शीघ्रता करें।

कुछ सम्मतियाँ पढ़िये—

······सुन्दर, सस्ता और उपयोगी निकला है।······पढ़नेसे······अनेक ज्ञातव्य बातोंका पता चल जाता है।······अङ्क संग्रहणीय है। भारत (इलाहाबाद)

लेख बड़े-बड़े विद्वानोंकी लेखनियोंसे लिखे गये हैं। कई लेख तो भारतसे भिन्न देशोंसे भी मँगवाये गये हैं।······लेख प्रायः सब तथ्यपूर्ण एवं जानकारीसे भरे हुए हैं।······कई सहस्र रुपया व्यय करना पड़ा होगा फिर भी इसका मूल्य केवल २॥≈) रक्खा गया है······। अवश्य संग्रह करना चाहिये। आर्यमित्र (आगरा)

········विषयोंकी व्यापकताकी दृष्टिसे तो रामायणपर यह अद्वितीय ग्रन्थ सिद्ध होगा।······सच्ची लगनके बिना ऐसे गुरुतर कार्य सिद्ध नहीं होते। हमें विश्वास है कि पाठकगण इस······से पूरा लाभ उठावेंगे। प्रताप (कानपुर)

······'रामायणांक' हिन्दी-जगत्‌की एक स्थायी सम्पत्तिके रूपमें सदा आदर पाता रहेगा—······। अपने ढंगका अद्वितीय ग्रन्थ है, साथ ही 'कल्याण' नामको सार्थक करता है।······हमारी प्रत्येक हिन्दी-प्रेमीसे अपील है कि वह इस विशेषांकको मँगवाकर अवश्य पढ़ें, इससे 'लोकलाहु परलोक निबाहू' दोनों साधनाएँ सफल होंगी। माधुरी (लखनऊ)

पता—व्यवस्थापक, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

Registered No. A. 1724.

'KALYANA-KALPATARU'

(English Edition of the 'Hindi Kalyana')

Editor — C. L. Goswami M. A., Sastri.

Subscription-Inland Rs. 4/8, Foreign 10 Sh.

Price of Special God Number Rs. 2/8.

As notified in the previous numbers, it has been decided to issue an English edition of the 'Kalyan,' side by side with the Hindi edition, for the benefit of those who cannot read Hindi. It will contain, as already announced, over 750 pages annually and will be printed on thick 40 lb. antique paper. The first number of each year will be a voluminous and profusely illustrated Special Number dealing with one main theme and will be more or less an exhaustive treatise on that Subject.

The inaugural number, which is expected to come out in the end of January, will be a God Number. It will cover about 250 pages and will contain about a dozen tri-coloured and several one-coloured illustrations. It will contain articles, dealing with the several aspects of God, from pious saints and eminent writers of the various provinces of this country and even foreign countries and representing various religions such as Hinduism, Mohammedanism, Zoroastrianism, Christianity and Buddhism.

We hope subscribers will be forthcoming in large numbers and will make our attempt a success. If we are able to secure something like 5000 subscribers this year, we may hope to increase the number of pages next year and may try to make the edition more attractive and useful. We expect our kind readers and sympathisers to help us in carrying out our plans.

Manager,

The 'Kalyana-Kalpataru,' Gorakhpur.

छप गया सचित्र प्रकाशित हो गया

श्रीश्रीविष्णुपुराण

मूल ग्रन्थ हिन्दी-अनुवादसहित ।

साइज २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ सं० ५४८, ८ चित्र मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़ेकी जिल्द २॥।) यह श्रीमहामुनि वेदव्यासलिखित अष्टादश पुराणान्तर्गत बहुत ही उपादेय ग्रन्थरत्न है । अनुवादका ढंग हमारे यहाँसे प्रकाशित अध्यात्मरामायणकी तरह एक तरफ मूल श्लोक और ठीक उनके सामने अनुवाद रक्खा गया है । टाइप नये, छपाई बहुत सुन्दर और साफ है, सबके कामकी चीज है । एक प्रति मँगवाकर देखिये ।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर